‘मैं’ और ‘वे’ के बीच
रामविलास शर्मा का ज्ञान-कांड

संस्कृति का ‘अर्ली-मॉडर्न’, परम्परा की आधुनिकता, और हिंदी-वर्चस्व का लोकतंत्रीकरण

अभय कुमार दुबे
भारतीय भाषा कार्यक्रम, विकासशील
समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस), दिल्ली

नई बौद्धिकता या तो पहले से मौजूद विचारों के नए समीकरणों का फलितार्थ होती है, या फिर उसका जन्म पुराने विचारों के खंडन पर आधारित नए विचारों से होता है। बौद्धिक जगत के प्राणों में विवादों का लहू बहता है। भले ही बहसों के ज्वार-भाटे में उतराते हुए बुद्धिजीवी इस हक़ीक़त का एहसास न कर पाते हों, पर अपने इच्छित सत्य को हासिल न कर पाने के लिए ही वे अपने पूर्ववर्तियों और समकालीनों पर आक्रमण करते हैं। [१]

मैं कहूँगा, वह (१८५७ का विद्रोह) आज़ादी की लड़ाई थी; वे कहेंगे, वह लड़ाई सामंतों ने अपने हित में लड़ी थी। मैं कहूँगा, अंग्रेज़ी राज में भारत का देहातीकरण हुआ; वे कहेंगे, अंग्रेज़ी राज में भारत का उद्योगीकरण हुआ। मैं कहूँगा, भारत के नवजागरण पर सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम का प्रभाव है; वे कहेंगे, उस संग्राम से इस जागरण को कुछ लेना-देना नहीं है। मैं कहूँगा, भारत में अंग्रेज़ी राज क़ायम होने से पहले यहाँ तमिल, बंगाली, हिंदी, मराठी आदि जातियों का निर्माण हुआ; वे कहेंगे, यह निर्माण नहीं हुआ और कुछ निर्माण हुआ तो अंग्रेज़ी राज में हुआ। मैं कहूँगा, भारत बहुजातीय राष्ट्र है; वे कहेंगे, भारत में अनेक राष्ट्रीयताएँ हैं और वे सब एक-दूसरे से अलग-थलग हैं। मैं कहूँगा, तमिल, बंगाली जातियों की तरह हिंदी जाति भी एक है; वे कहेंगे, हिंदी जाति की बात करना अंधराष्ट्रवाद है। [२]

पहला कथन रैंडल कोलिंस का है और दूसरा रामविलास शर्मा का। भारत समेत दुनिया के प्रमुख दर्शनों के उद्गम और विकास का समाजशास्त्रीय अध्ययन करने वाले कोलिंस ने यह पता लगाने की कोशिश की है कि कोई महान बुद्धिजीवी अपने युग में बौद्धिक परिवर्तन की प्रक्रिया किस तरह प्रभावित करता है। रचनाशीलता दो चरणों में काम करती है। कोलिंस के मुताबिक पहले चरण में कोई विचारक किसी अनसुलझी समस्या की शिनाख़्त करता है। फिर दूसरे चरण में वह अपने ज़माने को उसे हल करने की अहमियत का यक़ीन दिलाने की कोशिश करता है। कोलिंस के मुताबिक ये दोनों प्रक्रियाएँ आपस में गुँथी हुई द्वंद्वात्मक गतिशीलता से आगे बढ़ती हैं। जो समाधान का क्षण है, वही समस्याओं को जन्म देने का क्षण भी है। मसलन, भारत में अगर बौद्धों

---

[1] कोलिंस, रैंडल, *दि सोशियोलॅजीज़ ऑफ फ़िलॉसफ़ीज़ : ए ग्लोबल थियरी ऑव इंटलैक्चुअल चेंज,* दि बेलनैप प्रेस ऑव हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, मैसाचुसेट्स, १९९८, पृष्ठ ८०

[2] जुलाई, १९८८ में *वर्तमान सहित्य* के लिए हरिनारायण मिश्र से बातचीत करते हुए रामविलास शर्मा का कथन, संकलित, *मेरे साक्षात्कार,* किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, २०११ (चौथा संस्करण), पृष्ठ ११९

ने कर्म के बंधनों से छुटकारा पाने का रास्ता प्रस्तावित न किया होता तो इस दार्शनिक उलझन का जन्म ही न होता। अगर एपीकुरुस ने देवताओं के डर से मुक्ति की व्याख्या न की होती तो दैवी शक्तियों का भय एक मुद्दा ही न बनता। कांट ने उसी क्षण विज्ञान के संकटग्रस्त होने की खोज की जब वे उस संकट को खत्म करने के लिए कोपरनिकसीय क्रांति का एलान कर रहे थे। कोलिंस के इस अवलोकन के ज़रिए रामविलास शर्मा के बौद्धिक मानस में झाँका जा सकता है।

यह कहना अनुचित न होगा कि रामविलासजी ने जो कुछ लिखा और स्थापित किया, उसके 'प्राणों में विवादों का लहू बहता है'। हम जैसे-जैसे उनके विशाल वांगमय का अनुशीलन करते हैं, उस महाविवाद की जटिल और बहुआयामी तस्वीर उभरती जाती है जिसकी शुरुआत उन्होंने १९३४ में निराला की कविता पर किए जाने वाले हमलों का जवाब देने वाले अपने लेख से की थी।[3] यह तस्वीर पूरी करने के लिए हमें इस कथन में रामविलासजी की ही तरफ से कुछ पहलू और जोड़ने होंगे। मसलन, वामपंथी विमर्श जाति (जातीयता) या राष्ट्रीयता को एक ही चीज़ मानता है, पर रामविलासजी का कहना है कि जाति व्यापारिक पूँजी के चरण में ही बन जाती है और राष्ट्रीयता औद्योगिक पूँजीपति वर्ग के उभार के साथ उभरती है। यानी रामविलास शर्मा के खाते में जाति राष्ट्रीयता का 'अर्ली-मॉडर्न' है। वामपंथी बुद्धिजीवी गंगा-जमुनी संस्कृति का गुणगान करते नहीं थकते, पर उर्दू-हिंदी साहित्य की एकताबद्ध परम्परा की ज़बरदस्त पैरोकारी करने के बावजूद रामविलासजी इस धारणा को दरबारी किस्म की उर्दू लिखने वालों का सूत्रीकरण करार देते हैं। डी.डी. कोसम्बी, रमिला थापड़ और रामशरण शर्मा जैसे प्राचीन भारत के इतिहासकारों का कहना है कि आर्य बाहर से आए थे, पर रामविलासजी को १९५६ में ही आर्यों के आक्रमण की थीसिस पर शक हो गया था। बाद में वे साफ तौर से इसके खिलाफ होते चले गए। सभी लोग जिसे सामंतशाही के प्रभुत्व वाला भारतीय मध्ययुग कहते हैं, रामविलासजी ने उसे 'सामंतशाही के खोल' में विकसित होती हुई व्यापारिक पूँजी के उभार के रूप में देख कर 'अर्ली-मॉडर्निटी' (पश्चिमी और औपनिवेशिक प्रभाव के आगमन के पहले की आधुनिकता) के संकेतों की तरह पेश किया। जिस भक्ति-साहित्य को निर्गुण और सगुण के बीच बाँट कर देखा जाता है, उसे रामविलासजी प्रेममार्ग के एकल शीर्षक के तहत रखते हुए अखिल भारतीय लोकजागरण के रूप में पेश करते हैं; उस लोकजागरण की तरह जो उनकी निगाह में उन्नीसवीं सदी में हुए हिंदी नवजागरण की पूर्वपीठिका है। हिंदी का मार्क्सवादी चिंतन भारतीय परम्परा के जिन आयामों को पिछड़ा, दकियानूसी और ब्राह्मणवादी कह कर खारिज करता है, रामविलास शर्मा ने उन्हीं आयामों में से भौतिकवाद और प्रगतिशीलता के पहलू निकाल-निकाल कर दिखाने में अपना पूरा जीवन खर्च कर दिया। कभी लांछन के रूप में तो कभी उपाधि के रूप में जिन रामविलासजी को 'कट्टर मार्क्सवादी' कहा गया, वे भारतीय समाज को जड़ और परिवर्तनरोधी करार देने वाली मार्क्स की भारत संबंधी रचनाओं को खारिज करते हुए साफ कहते हैं कि वे ज़रूरत पड़ने पर मार्क्स को संशोधित करने से भी नहीं चूँकेंगे। रामविलासजी एक पार्टी की हुक्मशाही और सर्वहारा की तानाशाही के सिद्धांत को भी अस्वीकार करते हैं। उनका तर्क है कि मार्क्सवाद ही भारत को समझने के लिए ज़रूरी नहीं है, भारत भई मार्क्सवाद को समझने के लिए ज़रूरी है।

[3] बीस और तीस की दहाइयों में हिंदी के पहले आधुनिक काव्य-आंदोलन छायावाद और उसके प्रमुख हस्ताक्षरों सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, सुमित्रानंदन पंत और जयशंकर प्रसाद की थीं। इस त्रयी में महादेवी वर्मा की कविता बाद में जुड़ी। छायावादी कविता पर हुए आक्रमणों का सबसे ज़्यादा सामना निराला ने किया। उनकी काव्य-योजना का रबड़ छंद और केंचुआ छंद कह कर मज़ाक उड़ाया गया। ज्योति प्रसाद निर्मल द्वारा निराला पर किए गए हमले के जवाब में रामविलास शर्मा ने अपने लेख में साबित किया कि 'निराला की अतुकांत और दूरप्रवाही पंक्तियों वाली कविताएँ शैली और बायरन की कविताओं से बेहतर हैं'। देखें विश्वनाथ त्रिपाठी की संक्षिप्त टिप्पणी, 'रामविलास शर्मा का साहित्य विपुल और विविध है', रविभूषण (सम्पा.), *प्रभात खबर,* दीपावली विशेषांक, २०११, पृष्ठ ७९-८२; इसके बाद के पैरे में आया विश्वनाथ त्रिपाठी का कथन भी इसी लेख से।

मौलिक लेखन, सम्पादन, संकलन और अनुवाद मिला कर रामविलासजी ने पूरी सौ पुस्तकों की रचना की। विश्वनाथ त्रिपाठी की राय है कि उनके द्वारा 'लिखित साहित्य को पूरा पढ़ लेना और उस पर अपनी कोई राय बना लेना दुष्कर है'। रामविलासजी पर लिखने वालों ने प्रोफेसर त्रिपाठी के इस कथन को अक्सर सही साबित किया है। उनकी समग्र परियोजना अक्सर हमारी पकड़ से दूर ही रही है। दूसरे, निहायत ही पारदर्शी भाषा में व्यक्त उनके विचार और स्थापनाएँ इतनी आकर्षक हैं कि ज़रा सी सावधानी हमें उनसे सहमत होने की तरफ धकेल देती है। मन में संदेह बने रहते हैं, पर साथ में यह भी दिल यह भी कहता रहता है कि क्यों न इस बात को मान लिया जाए। मुश्किल यह है कि उनके आलोचक भी इस दुविधा को दूर करने में कोई खास मदद नहीं कर पाते। ज़्यादातर आलोचनाएँ उनके किसी एक पक्ष को ही सम्बोधित करती हैं। जो विद्वान उनके इतिहास-लेखन से सहमत नहीं हैं, वे उनके साहित्य-चिंतन पर कुछ कहने से परहेज़ करते हैं। मसलन, वीर भारत तलवार ने चार लंबे-लंबे लेख लिख कर रामविलासजी के मार्क्सवाद की कठोर आलोचना की है,[४] पर वे यह भी कहते हैं कि 'रामविलासजी की बहुत सी मान्यताएँ मेरे लिए महत्त्वपूर्ण हैं, वे चीज़ों को समझने और आगे बढ़ने में मेरी मदद करती हैं।' इसी तरह की एक कवायद नब्बे के दशक में मैंने भी रामविलासजी द्वारा प्रतिपादित हिंदी जाति की थीसिस को मार्क्सवादी कसौटियों पर कसने के लिए की थी। लेकिन मुझे पता है कि वह आलोचना किसी भी तरह से रामविलासजी की प्रतिनिधि आलोचना नहीं थी। मेरा वह प्रयास उस महावृत्तांत से भी सूचित नहीं था जिसे गढ़ने की प्रक्रिया में उस थीसिस का सूत्रीकरण किया गया था।[५] साहित्यालोचन के क्षेत्र में रामविलासजी के मार्क्सवाद को परम्परापोषक करार देने वाले संजीव कुमार उनके अन्य पक्षों पर (जैसे, भाषा-विज्ञान संबंधी काम) पर केवल चुप ही नहीं रहते, बल्कि उन्हें यह भी लगता रहता है कि मैं 'बहुत ही सतही क़िस्म की बात शायद सतही तरीक़े से कह रहा हूँ ...। इस पर बहुत निर्णायक तरीक़े से अगर कोई बात कहनी हो तो मुझे बहुत अधिक तैयारी करनी चाहिए'।[६] नामवर सिंह अगर एक साँस में उन्हें 'केवल जलती मशाल' और दूसरी साँस में उन्हें 'इतिहास की शव-साधना' में तल्लीन बताते हैं, तो साथ में यह कहना भी नहीं भूलते कि 'राहुलजी और द्विवेदीजी की ही तरह रामविलासजी भी मेरे अंदर जीवंत और जागृत है'।[७] अपूर्वानंद जब कहते हैं कि 'एक-एक करके रामविलास शर्मा के चमकते हुए धारधार खाँडे के नीचे सब गिरे। सब के सिर, चाहे वह राहुल हों, यशपाल हों। राहुल जैसा महापंडित रामविलासजी को चुनौती नहीं दे सका', तो साथ में वे यह बताना नहीं भूलते कि रामविलासजी किस तरह से खुद उनके भी हीरो थे।[८]

---

[4] तलवार, वीरभारत, *सामना : रामविलास शर्मा की विवेचन-पद्धति और मार्क्सवाद तथा अन्य निबंध,* वाणी प्रकाशन, दिल्ली, २००५; वीर भारत का दूसरा कथन डॉ. जयनारायण बुधवार और डॉ. प्रमिला बुधवार द्वारा सम्पादित रामविलासजी पर केंद्रित *कल के लिए* के विशेषांक में प्रकाशित परिसंवाद 'प्रश्नों के घेरे में रामविलास' से। यह विशेषांक *युगपुरुष रामविलास शर्मा* के रूप में शीघ्र प्रकाश्य।

[5] यह आलेख मैंने दिल्ली विश्वविद्यालय के साउथ कैम्पस में तीन दिन तक हुई एक विचार-गोष्ठी के दूसरे दिन पेश किया था। गोष्ठी की विषय-वस्तु हिंदी जाति की स्थापना थी और इस सत्र की अध्यक्षता नामवर सिंह कर रहे थे। गोष्ठी के पहले दिन रामविलासजी भी आए थे। हिंदी जाति की परिकल्पना को मार्क्सवाद विरोधी बताने वाला अपना पर्चा खत्म करने के बाद मुझे गोष्ठी में जिस तरह के ज़बरदस्त हमलों का सामना करना पड़ा, उससे स्पष्ट था कि हिंदी की साहित्यिक और बौद्धिक दुनिया ने हिंदी जाति और उससे जुड़े हुए रामविलास शर्मा के मार्क्सवाद को पूरी तरह से आत्मसात कर लिया है। बाद में सव्यसाची ने *उत्तरार्ध* में मेरा लेख तो छापा ही, साथ ही रामविलासजी का लेख भी साथ में प्रकाशित किया।

[6] संजीव कुमार, 'हिंदी का मार्क्सवाद : जात्याभिमानी परचम के तले', अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *हिंदी की आधुनिकता-एक पुनर्विचार,* दूसरा खंड, आईआईएएस-वाणी, शीघ्र प्रकाश्य, २०१२

[7] नामवर सिंह के इन दोनों लेखों को एक साथ पढ़ने के लिए देखें विश्वनाथ त्रिपाठी और अरुण प्रकाश (सम्पा.), *वसुधा (५१) / रामविलास शर्मा के कृतित्व पर केंद्रित,* जुलाई-सितम्बर, २००१

[8] अपूर्वानंद, 'रामविलास शर्मा का विजेता मार्क्सवाद और मुक्तिबोध क्षण', दुबे, अभय कुमार, (सम्पा.), *हिंदी की आधुनिकता-एक पुनर्विचार,* दूसरा खंड, आईआईएएस-वाणी, शीघ्र प्रकाश्य, २०१२

उनके आलोचक आधे-अधूरे प्रयासों के कारण अपनी आलोचना के प्रति एक तरफ तो संदेह के शिकार हैं, और दूसरी तरफ उनके भीतर रामविलासजी का प्रशंसक भी कहीं छिपा बैठा है। शायद इसीलिए भगवान सिंह ने रामविलासजी को पढ़ने की दिक्कतों और शर्तों की इस तरह व्याख्या की है, 'उनकी सभी स्थापनाओं से सहमत होना नासमझी है, और उनको खारिज करना दुर्भाग्य-पूर्ण। रामविलासजी को जिरह करते हुए पढ़ा जाना चाहिए। यह जिरह केवल उनसे ही नहीं चलानी चाहिए, स्वयं अपने साथ भी चलानी चाहिए। उनकी मान्यताओं की भी पड़ताल होनी चाहिए और अपनी मान्यताओं और पूर्वग्रहों की भी। रामविलासजी बाज़ारू चिंतन के प्रतिपक्ष हैं। ब्योरों में जाने पर उनसे अनेक बिंदुओं पर गंभीर असहमति हो सकती है। उनकी बहुत सी धारणाएँ अंतर्विरोधी भी मिलेंगी, पर उनकी मूलभूत स्थापनाएँ सुदृढ़ आधार पर टिकी हो सकती हैं, पर, संभव यह भी कि न हों।' [९]

सवाल यह है कि क्या इस महाविवाद का कोई केंद्रीय सार है? रामविलासजी क्या जानना और बताना चाहते थे? उनका इच्छित सत्य क्या था? वह आपस में गुँथी हुई द्वंद्वात्मक गतिशीलता क्या थी जिसे रामविलासजी की रचनाशीलता की चालक-शक्ति कहा जा सकता है? इस लेख में मेरा इरादा यह दिखाने का है कि रामविलासजी की रचनात्मकता के केंद्र में एक नहीं, बल्कि तीन अनुत्तरित प्रश्न थे जिनका प्रतिपादन उन्होंने समाधान प्रस्तावित करने की उसी प्रक्रिया में किया है जिसकी शिनाख़्त रैंडल कोलिंस ने की है। इनमें पहली अनसुलझी उलझन यह थी कि **मार्क्सवादी कसौटियों के मुताबिक जो समाज पिछड़ा हुआ मान लिया गया हो, उसमें दर्शन, कला और साहित्य का इतना उत्कृष्ट विकास कैसे और क्यों होता है? यह पिछड़ा हुआ समाज भारत भी हो सकता है और अफ़लातून के ज़माने का यूनान भी।** दूसरी उलझन यह थी कि **ऋग्वेद से चली आई पाँच हज़ार साल पुरानी भारतीय परम्परा का मूल्यांकन कैसे किया जाना चाहिए? आधुनिकता के साथ इस परम्परा के रिश्ते की शिनाख्त कैसे होगी?** तीसरी उलझन यह थी कि **एक बहुभाषी, बहुधार्मिक, बहुसांस्कृतिक और बहुजातीय देश में एक स्वदेशी सम्पर्क-भाषा का तर्क कैसे स्थापित किया जा सकता है?** ये तीनों उलझनें अलग-अलग भी थीं, और आपस में गुँथी हुई भी।

रामविलासजी खुद अपने आत्म-कथनों में बताते हैं कि सत्तर के दशक के आसपास उन्होंने न केवल साहित्यालोचन त्याग दिया था, बल्कि नए साहित्यकारों की रचनाएँ भी पढ़नी बंद कर दीं थीं। इसीलिए उन जैसे सक्षम आलोचक ने सत्तर और अस्सी के दशक की बेहतरीन हिंदी कविता पर कुछ नहीं लिखा। कुछ-कुछ नागार्जुन पर ज़ुबानी टीका-टिप्पणियाँ तो उनके यहाँ मिलती हैं, पर रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा और धूमिल की चमकदार पीढ़ी पर वे कुछ नहीं कहते। साहित्य छोड़ कर पहले वे भाषा-विज्ञान में रमे, फिर इतिहास-लेखन और समाज-चिंतन में डूब गए। उन्होंने जिन श्रेणियों (राष्ट्रवाद, जातीयता, भाषा-समस्या, इतिहास-दृष्टि, उपनिवेशवाद का प्रभाव, दर्शन का विकास आदि) के इर्द-गिर्द अपना शास्त्र बुना, वे समाज-विज्ञान और मानविकी के क्षेत्र से अभिन्न संबंध रखती थीं। अगर वे महज साहित्यालोचक होते, तो समाज-वैज्ञानिक शोध की कसौटियों पर उन्हें कसने की ज़रूरत न पड़ती। पर, मुश्किल यह है कि रामविलासजी का लेखन समाज-वैज्ञानिक दृष्टि से सुपरिभाषित पेशेवर अनुसंधान की प्रविधियों का इस्तेमाल नहीं करता। ऐसी बात नहीं कि अपनी रचनाओं में उन्होंने पाद टिप्पणियों का इस्तेमाल न किया हो। कहीं-कहीं ग्रंथावली भी मिल जाती है।

[9] भगवान सिंह ने रामविलासजी के कम से कम दो पक्षों (इतिहास-लेखन और भाषा संबंधी कार्य) का बारीक अध्ययन किया है। देखें, 'रामविलास शर्मा : सांस्कृतिक मूलाधार की तलाश', *प्राचीन भारत के इतिहासकार*, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, २०११, पृष्ठ ७२-८४; राहुल सांकृत्यायन और रामविलासजी के बीच मतभेदों का गंभीर विवेचन करने वाला एक लेख भी इसी संकलन में मिलता है।

लेकिन, शोध की विश्वसनीयता साबित करने के लिए समाज-वैज्ञानिक जिन सिक्काबंद तौर-तरीकों का कष्टसाध्य बारीकी से प्रयोग करते हैं, उनकी चिंता हिंदी के इस महा-विचारक को नहीं थी। एक स्वयंभू सिद्धांतकार की तरह वे एक के बाद एक स्थापना देते चले जाते हैं। मेरी ज़मीन भी समाज-विज्ञान की है, इसलिए मैंने इस लेख में रामविलासजी के सार को समाज-वैज्ञानिकों द्वारा की गई निष्पत्तियों के आईने में देख कर समझने की कोशिश की है। यहाँ मेरी इच्छा यह भी पता लगाने की है कि जिस तरह का शोध विश्वविद्यालयों और शोध संस्थानों में होता है, उसके परिणामों पर हिंदी का वह ऊर्जस्वित चेतना-पुंज कहाँ तक खरा उतरता है।

पूरा लेख चार हिस्सों में बँटा है। पहले भाग में उनके इतिहास-लेखन की समीक्षा है। दूसरे में उनके समाज-चिंतक पक्ष का विश्लेषण है। तीसरे भाग के केंद्र में उनका भाषा-चिंतन है। चौथे में उनकी समग्र परियोजना का आकलन है। रामविलासजी के मार्क्सवाद की खोज-खबर लेने से बचना लगभग असंभव है, क्योंकि हर कदम पर वे अपनी बौद्धिक वैधता मार्क्स से ही हासिल करते हैं। इसलिए हर भाग में उनके मार्क्सवाद को खंगाला गया है। अधिकतर उद्धरण उनके साक्षात्कारों से हैं। मैं उनकी पुस्तकों से भी उद्धरण ले सकता था, पर उस सूरत में यह लेख भी पुस्तकाकार हो जाता। वैसे भी उनके साक्षात्कार उनकी स्थापनाओं का निचोड़ होने के साथ-साथ उनके विशाल रचना-संसार के गुटके की तरह हैं। अंत में यह स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि रामविलास शर्मा की स्थापनाओं के पीछे मौजूद तथ्यों की सच्चाई और उनके अनुसंधान की गुणवत्ता जाँचना न तो मेरे इस प्रयास का उद्देश्य है और न ही यह काम इतने छोटे कलेवर में संभव है। मैं तो समाज-विज्ञान की मदद से केवल उन प्रवृत्तियों को रेखांकित करना चाहता हूँ जो रामविलासजी के विमर्श की चालक-शक्ति थीं।

I
भारत की 'प्रारम्भिक' आधुनिकता : सांस्कृतिक आयाम

> एक बात मुझे बराबर दुख देती थी कि मार्क्स जैसे क्रांतिकारी कैसे इस नतीजे पर पहुँचे कि अंग्रेज़ न आते तो भारत में क्रांति ही न होती। वह जो द्वंद्वात्मक गतिवाद का सिद्धांत है, वह सिर्फ यूरोप के लिए है और भारत में आकर कैसे ठप्प हो गया। ... ... पिछड़े हुए समाज का मतलब है कि औद्योगिक क्रांति से पहले जितने समाज हैं वे सब पिछड़े हुए हैं और इन्हीं पिछड़े समाजों से मार्क्स सबसे ज़्यादा प्रभावित थे। हेगेल जब पैदा हुए थे और जब काम कर रहे थे, उनके दर्शन का प्रभाव पड़ा मार्क्स के ऊपर, लेकिन वहाँ पर उद्योगीकरण बहुत ही कम हुआ था, जर्मनी बहुत पिछड़ा हुआ देश था। इंग्लैंड के मुकाबले तो पिछड़ा हुआ था ही। इसी तरह उनके ऊपर यूनान के दार्शनिकों का बहुत प्रभाव था। इन्होंने जो अपना शोध प्रबंध लिखा था डॉक्टरेट के लिए, वह यूनान के दो दार्शनिकों पर ही लिखा था। मैंने ... ... प्रश्न किया है कि ये जो पिछड़े हुए समाज हैं उनका दर्शन मार्क्स जैसे प्रगतिशील विचारकों को क्यों प्रभावित करता है। और मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि ये समाज इतने पिछड़े हुए नहीं थे जितना समझा जाता है ...। [१०]

रामविलासजी ने ये प्रश्न पहले अपनी विशाल कृति *भारत में अंग्रेज़ी राज और मार्क्सवाद* (१९८२) में उठाए और फिर *मार्क्स और पिछड़े हुए समाज* (१९८६) में। इन रचनाओं में कमोबेश उन्हीं धारणाओं का बहुत सारे

[10] नंद भारद्वाज से रामविलास शर्मा की बातचीत, 'रचनाकर्म, साहित्य और समाज के अंतस्सम्बंध', *वातायन,* वर्ष ३१, अंक १, १९९२ (यह साक्षात्कार भी *मेरे साक्षात्कार* में संकलित है, पृष्ठ २७०)

ऐतिहासिक और सैद्धांतिक साक्ष्यों समेत विस्तृत विवेचन था जो उन्होंने पचास और साठ के दशक में लिखे अपने निबंधों में सूत्र रूप में पेश की थीं। रामविलासजी पहले विद्वान नहीं थे जिन्होंने पश्चिम के भारत में कदम पड़ने से पहले हमारे समाज में मौजूद आधुनिकता के पहलुओं की तरफ इशारा किया हो। पिछले पचास साल में हमारे पास धर्म, कला, साहित्य और मानवशास्त्र के क्षेत्र में काम करने वाले इतिहासकारों और विद्वानों की समृद्ध परम्परा रही है जिनकी रचनाएँ बार-बार बताती हैं कि दक्षिण एशियायी समाज और संस्कृति जड़ होने के बजाय ऊर्जावान और गतिशील थी। दूसरे, रामविलासजी की रचनाओं में ऐसे पहलुओं की कमी नहीं है जो उन्हें ई.एम.एस. नम्बूद्रीपाद की उस कोशिश के नज़दीक दिखाते हैं जिसमें इस कम्युनिस्ट राजनेता ने मलयाली समाज में पूँजीवाद के प्राक्-औपनिवेशिक रूपों की तरफ इशारा किया है। नम्बूदिरीपाद केरल में पंद्रहवीं और सोलहवीं सदी में 'राष्ट्र' जैसी संरचना का उदय देखते हैं।[११] इसी तरह वे इरफान हबीब के उस प्रयास की याद भी दिलाते हैं जिसमें मुग़ल काल के इस इतिहासकार ने देशज पूँजीवाद की संभावनाओं के ऐसे प्रमाण दिए हैं जिनका अभी तक खंडन नहीं किया जा सका है। हबीब ने दिखाया है कि मुग़ल काल में निजी उपभोग से परे जा कर बाज़ार के लिए होने वाला खेतिहर और ग़ैर-खेतिहर उत्पादन तत्कालीन अर्थव्यवस्था के बहुत बड़े हिस्से का निर्माण करता था। खेती में ख़ुद-काश्त कृषि की मौजूदगी थी यानी आज के ज़माने की पूँजीवादी खेती की तरह खेतिहर मज़दूरों को पगार पर रख कर खेती करवाई जाती थी जिसमें नक़दी फसलें होती थीं। व्यापरिक पूँजी शक्तिशाली थी, अर्थव्यवस्था का काफी मौद्रीकरण हो चुका था। दस्तकारी उत्पादन संगठित रूप से किया जाता था। हबीब मेक्स वेबर के अवलोकन से सहमत नहीं हैं कि जाति-प्रथा जैसी सामाजिक संस्थाओं की वजह से भारत में दस्तकारी उत्पादन में जड़ता आई। वेबर के विपरीत हबीब बताते हैं कि केवल एक जाति ही एक दस्तकारी कला की वाहक नहीं होती थी। बल्कि एक किस्म की कारीगरी कई-कई जातियाँ करती थीं। दूसरे, कारीगर ज़रूरत पड़ने पर खेतिहर उत्पादन में लौट जाते थे, और माँग बढ़ने पर फिर दस्तकारी उत्पादन करने लगते थे।[१२]

बहरहाल, अर्ली-मॉडर्न और इन विद्वानों की दृष्टि में एक अंतर यह ज़रूर रहा है कि इनमें से कोई उस ऊर्जा और गतिशीलता को आधुनिकता की नुमाइंदगी करने वाले सामाजिक-सांस्कृतिक रूपों की प्रारम्भिक शक्ल में नहीं देखता। जबकि रामविलासजी दोनों काम करते दिखाई देते हैं। वे हबीब की तरह पूँजीवाद के देशी विकास की उन संभावनाओं की तरफ तो इशारा करते ही हैं जिन्हें अंग्रेज़ों ने नष्ट किया, साथ में वे अर्ली-मॉडर्न के इतिहासकारों की तरह प्रारम्भिक आधुनिकता की नुमाइंदगी करने वाली सामाजिक-सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों को भी रेखांकित करते हैं। इसीलिए मेरा ख्याल है इतिहास-लेखन का अर्ली-मॉडर्न स्कूल उनके उद्यम को समझने में हमारी कुछ मदद कर सकता है, हालाँकि जैसा कि आगे चल कर मैं दिखाऊँगा, महज़ पेशेवर इतिहासकार होने के बजाय एक सभ्यतामूलक चिंतक और सांस्कृतिक इतिहासकार होने के नाते रामविलासजी भारतीय सभ्यता की निरंतरता और सांस्कृतिक मूलाधार का आख्यान रच रहे थे। वे उन तीन सौ सालों (सोलहवीं से अट्ठारहवी सदी) के दायरे में सीमित नहीं रह सकते थे जिस पर भारत की ज़्यादातर अर्ली-मॉडर्न हिस्ट्री अपना ध्यान केंद्रित रखती है। आइए, पहले एक छोटी सी चर्चा कर लें कि यह अर्ली-मॉडर्न इतिहास-लेखन का अनुशासन क्या है।

---

[11] नम्बूदिरीपाद, ई.एम.एस., *दि नैशनल क्वेश्चन इन केरला,* बंबई, १९५१, पृष्ठ ५१-५८

[12] इरफान हबीब, 'पोटेंशियलिटीज़ ऑव कैपिटलिस्ट डिवेलपमेंट इन दि इकॉनॉमी ऑव मुग़ल इंडिया', *दि जरनल ऑव इकॉनॉमिक हिस्ट्री,* खंड २९, अंक १, दि टास्क्स ऑव इकॉनॉमिक हिस्ट्री, मार्च १९६९, पृष्ठ ३२-७८

अर्ली-मॉडर्न इतिहास-लेखन : अनाल्स स्कूल के नाम से मशहूर इतिहास-लेखन की पद्धति के उत्तराधिकारी फर्नैंद ब्रॉदल ने अपने तीन खंडों के महाग्रंथ *सिविलाइज़ेशन एंड कैपिटलिज़म, 15थ-18थ सेंचुरी* (फ्रेंच में पहली बार १९६७ में प्रकाशित) में पंद्रहवीं से अट्ठारहवीं सदी के बीच की अवधि को मध्ययुग कहने के बजाय अर्ली-मॉडर्न करार दिया था। अनाल्स स्कूल इतिहास को प्राचीन, शुरुआती मध्य, बाद का मध्य और आधुनिक युगों में बाँट कर देखने का विरोध करते हुए आग्रह करता था कि सारी दुनिया के इतिहास को अलग-अलग करके पढ़ने के बजाय समग्र दृष्टि से देखना चाहिए। बहरहाल, ब्रॉदल द्वारा छोड़े गए इस सुराग को कुछ अध्यवसायी इतिहासकारों ने अस्सी और नब्बे के दशक में पकड़ा। यूरोप में आधुनिकता के शुरुआती रूपों की खोज करने वाले विद्वानों के अलावा इस मंडली में ऐसे इतिहासकार भी थे जो उपनिवेशवाद से पीड़ित रहे देशों को यूरोकेंद्रित इतिहास-दृष्टि से मुक्ति दिलाने के लिए जद्दोजहद कर रहे थे। इन लोगों ने देखा और दिखाया, '१४९२ से पहले पूँजीवाद के उदय में अफ्रीका, एशिया और यूरोप बराबर के साझीदार थे। इस तारीख के बाद यूरोप आगे बढ़ गया। ऐसा इसलिए हुआ ... ... कि यूरोप अमेरिका के नज़दीक स्थित था। यूरोपियनों ने न केवल अमेरिका की अकूत सम्पत्ति हासिल कर ली, बल्कि बाद में एशिया और अफ्रीका की अकूत सम्पत्ति भी उन्हें मिल गई। यूरोप इसलिए आगे नहीं बढ़ा कि वह ग़ैर-यूरोपियनों से अधिक प्रतिभाशाली, अधिक साहसी, अधिक बेहतर, अधिक आधुनिक, अधिक प्रगतिशील या अधिक बुद्धिसंगत था। ये बातें तो यूरोकेंद्रित प्रसार के मिथक के अलावा कुछ नहीं हैं जिन्हें जल्दी से जल्दी भुला दिया जाना चाहिए।' [१३] इतिहास-लेखन का अर्ली-मॉडर्न उद्यम कितना कामयाब रहा, इसका अंदाज़ा इस स्वीकृति से लगाया जा सकता है जो उनके प्रशंसकों की नहीं बल्कि उसके आलोचकों की है : '... यह विद्वत्ता इस विचार को पलट देने में ज़बरदस्त रूप से कामयाब रही कि यूरोप से बाहर की दुनिया किसी न किसी तरह उत्पादन के 'सामंती' रूपों में फँस कर रह गई थी या किसी अपरिवर्तनीय 'एशियायी उत्पादन पद्धति' का शिकार हो गई थी।' [१४] '... आधुनिकता के प्रारम्भिक रूप खोजने वाली विद्वत्ता ने औपनिवेशिक आधुनिकता को दिए गए निर्णायक महत्त्व का पर्दाफ़ाश करने और आधुनिक को औपनिवेशिक की गिरफ्त से छुटकारा दिलाने की सराहनीय ज़िम्मेदारी पहले ही निभा दी है।' [१५]

अर्ली-मॉडर्न इतिहास-लेखन ने मध्ययुगीन समाज के उन रूपों को रेखांकित किया जिनके तहत व्यापारी वर्ग कारीगरों से माल बनवा कर मुनाफा कमाने के लिए विश्व-मंडी में भागीदारी करता था। इस प्रक्रिया में स्थानीय बाज़ारों और विश्व-बाज़ार के बीच एक तरह का संश्रय बनता जाता था। इस व्यापारी वर्ग की प्रबंधन शैली तत्कालीन सामाजिक सत्ता पर हावी कुलीनता और जन्मना श्रेणीक्रम पर आधारित सामंती वर्ग के मुकाबले कहीं अधिक बुद्धिसंगत थी। इस अर्ली-मॉडर्न अवधि में शासन-व्यवस्था बड़ी-बड़ी एकीकृत राजशाहियों के हाथ में थी। दरअसल, ये राजशाहियाँ खुद भी व्यापार में दिलचस्पी रखते हुए और भागीदारी करते हुए व्यापारियों और व्यापारिक मार्गों को संरक्षण देती थीं। इनके बिना व्यापारिक पूँजी और उसके वाहकों की सुरक्षा की गारंटी नहीं हो सकती थी।

---

[13] यूरोकेंद्रित विश्व-इतिहास के आलोचक जे.एम. ब्लॉट का यह उद्धरण (*दि कोलोनाइज़र्स मॉडल ऑव दि वर्ल्ड*, गुइलफोर्ड प्रेस, न्यूयार्क, १९९३, पृष्ठ) रिचर्ड्स, एफ. जॉन के लेख अर्ली माडर्न इंडिया एंड वर्ल्ड हिस्ट्री (*जरनल ऑव वर्ल्ड हिस्ट्री*, खंड ८, अंक २, यूनिवर्सिटी ऑव हवाई प्रेस, १९९७, पृष्ठ १९७-२०९) से।

[14] गोल्डस्टोन, जैक ए., 'दि प्रॉब्लम ऑव 'अर्ली मॉडर्न' वर्ल्ड', *जरनल ऑव इक्नॉमिक एंड सोशल हिस्ट्री ऑव दि ओरिएंट*, खंड ४१,अंक ३, १९९८, पृष्ठ २४९-२८४

[15] बनर्जी, प्रथमा, *दि मॉडर्न एंड अर्ली मॉडर्न : थॉट्स ऑन टाइम, पीरियोडिसिटी एंड टेम्पोरल हेटरोडोक्सीज़*, अप्रकाशित आलेख, सीएसडीएस, दिल्ली, २०१२

पहले के इतिहासकार, चाहे वे मार्क्सवादी हों या राष्ट्रवादी या कोई अन्य, सोलहवीं से अट्ठारहवीं सदी की अवधि को 'मुग़ल भारत' या 'बाद के मध्ययुगीन भारत' या 'बाद का प्राक्-औपनिवेशिक भारत' के रूप में चिह्नित करते थे। दूसरे, भारत के इतिहास को विश्व-इतिहास के साथ जोड़ कर अध्ययन करना इन इतिहासकारों की प्राथमिकताओं में शामिल नहीं था। लेकिन, अर्ली-मॉडर्न के दावेदारों ने सोलहवीं से अट्ठारवीं सदी के बीच दुनिया के विकास को बड़े पैमाने पर प्रभावित करने वाली छः विशिष्ट प्रक्रियाओं की शिनाख्त की और पाया कि दक्षिण एशिया भी इन सभी पैमानों पर न केवल खरा उतरता है, बल्कि पश्चिम से कई मामलों में आगे दिखाई देता है। ये छः प्रक्रियाएँ थीं : सारी मानवता को आपस में जोड़ने वाले समुद्री रास्तों और उत्तरोत्तर सक्षमता से उनका इस्तेमाल करने वाले परिवहन नेटवर्क की रचना; लंबी दूरी के व्यापार पर आधारित और प्रत्येक महाद्वीप में विस्तारमान अर्थव्यवस्थाओं को जोड़ने वाली एक सच्ची विश्व-मंडी का उदय; इन तीन सौ साल में दुनिया की आबादी का दोगुना हो जाना; सारी दुनिया में विशाल आकार की स्थिर, शक्तिशाली, सुसंगठित, सुसक्षम और लंबी भू-क्षेत्रीय पहुँच वाली राज्य-संरचनाओं का उदय; उत्पादन के विस्तार के लिए धरती का उत्तरोत्तर सघन इस्तेमाल; बहुत सी नई प्रौद्योगिकियों का प्रसार (जैसे, नई दुनिया से आई खेती की नई तकनीकें, बारूद, छापे की तकनीक आदि)। अर्ली-मॉडर्न परिघटना का दावा करने वाले अनुसंधानकर्त्ताओं ने सुव्यवस्थित तरीके से प्रमाणित किया कि अगर इन छः मानकों के कारण यूरोपीय समाज में आधुनिकता की ज़मीन बन रही थी, तो इनकी प्रबल मौजूदगी भारत के बारे में हमें यही पैग़ाम देती है। जॉन रिचर्ड्स के मुताबिक भारत अपने बंदरगाहों और सक्रिय जहाजरानी के ज़रिए सदियों से बंगाल की खाड़ी, मलक्का जलडमरूमध्य, चीन सागर, अरब सागर, लाल सागर और भूमध्यसागर के परिवहन नेटवर्कों का अंग था। रिचर्ड्स का आकलन है कि भारत हीरों, मिर्च, सूती और रेशमी कपड़ों, और अन्य वस्तुओं के व्यापार और निर्माण में बहुत आगे था।[१६] डच ईस्ट इंडिया कंपनी की बंगाल संबंधी गतिविधियों के अध्येता ओम प्रकाश का तो कहना है कि बंगाल से डच व्यापारी इतना कपड़ा खरीदते थे कि सत्रहवीं सदी में उनसे उस पूरे क्षेत्र के लिए एक लाख नए रोज़गारों का सृजन हो सकता था। रिचर्ड्स का कहना है कि सारे भारत से टैक्स वसूलने, राजनीतिक स्थिरता कमोबेश कायम रखने, सबसे बड़ी फौज का रखरखाव करने के मानकों के साथ अपनी विशालता, सक्षमता और अकूत सम्पत्ति के मामले में मुग़ल साम्राज्य की तुलना ऑटोमन और सफाविद साम्राज्यों से की जा सकती है। *एटलस ऑव वर्ल्ड पापुलेशन हिस्ट्री* का हवाला देते हुए रिचर्ड्स ने यह भी दिखाया है कि पंद्रह सौ की शुरुआत में भारतीय उपमहाद्वीप की आबादी दस करोड़ थी जो अट्ठारह सौ तक साढ़े अट्ठारह करोड़ हो गई। इरफान हबीब ने *दि कैम्ब्रिज इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑव इंडिया* में इससे भी आगे बढ़ कर कहा है कि सत्रहवीं सदी के शुरू में भारत की आबादी चौदह से पंद्रह करोड़ के बीच थी जो अट्ठारहवीं सदी में पूरी बीस करोड़ हो गई। नई दुनिया से लाई हुई तम्बाकू और जौ की खेती इन दिनों दक्षिण एशिया में तेजी से फैली। मिर्च की खेती की तकनीक धीरे-धीरे पर सारे इलाके में फैल गई। बारूद की प्रौद्योगिकी पर मुग़लों को महारत थी ही। भारत में फौजी इस्तेमाल के लिए तोपें-बंदूकें खूब बनती थीं। कुल मिला कर भारत की अर्थव्यवस्था न केवल लगभग दोगुनी हो चुकी आबादी की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए उत्पादन कर रही थी, बल्कि विश्व-मंडी की माँग के मुताबिक माल की आपूर्ति करने में भी सफल थी।

अपनी व्याख्या के इसी बिंदु पर आकर रिचर्ड्स सबसे ज़्यादा चुनौती भरा सवाल उठाते हैं कि क्या भारत की इन 'अर्ली-मॉडर्न' सदियों में लोगों, जिंसों और विचारों का परिसंचरण आधुनिक युग से मिलता-जुलता यानी सघन

[16] रिचर्ड्स, उपरोक्त। इसके आगे आने वाला ओम प्रकाश का हवाला भी रिचर्ड्स की इसी रचना से (ओम प्रकाश, *दि डच ईस्ट इंडिया कंपनी एंड इकॉनॉमी ऑव बंगाल, 1630-1720,* प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, एनजे, १९८५)।

और तीव्र था? समाज की गतिशीलता के इस प्रमाण के लिए रिचर्ड्स पूरे विश्वास के साथ लोकप्रिय धार्मिक आंदोलन के कारण होने वाले नए किस्म के सांस्कृतिक उत्पादन का उल्लेख करते हैं। रिचर्ड्स का कहना है कि मात्रा, सघनता और विविधता के लिहाज़ से उत्तरोत्तर बढ़ते हुए इस सांस्कृतिक उत्पादन का केंद्र उत्तर भारत था। उनकी चर्चा यहीं आ कर इस अपील के साथ खत्म हो जाती है कि हमें औपनिवेशिक चश्मा उतार कर नई आँखों से इन तीन सौ सालों में बनी नई संस्थाओं, नए सामाजिक रूपों, नई सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों और नई उत्पादकता को देखना चाहिए।

रिचर्ड्स ने नवीन सांस्कृतिक उत्पादन का कारण बने जिस लोकप्रिय धार्मिक आंदोलन को उत्तर भारत में केंद्रित बताया था, और जिसे हम सब भक्ति आंदोलन के नाम से जानते हैं, वह एक अखिल भारतीय परिघटना था। रामविलास शर्मा के इतिहास लेखन में यह भक्ति आंदोलन लोक-जागरण की सामाजिक परिघटना के रूप में उभरता है जिस पर हम आगे चर्चा करेंगे। दरअसल, यही है वह विभाजक रेखा जिस पर खड़े हो कर वे अपनी योजनानुसार इतिहास में पीछे ऋग्वेद के दार्शनिक काव्य तक और आगे निराला की कविता तक आवागमन करते रहते हैं। एक मार्क्सवादी की तरह वे इतिहास की चालक-शक्ति की शिनाख्त मोड ऑव प्रोडक्शन में करने के लिए अपने अध्ययन-अनुसंधान को प्राचीन भारत से लेकर मध्ययुगीन भारत तक पगार-प्रथा (वेज लेबर) की प्रचुर मौजूदगी साबित करने में खपाते हैं। वे दिखाते हैं कि पगार देने वाले व्यापारी हैं, और व्यापारिक पूँजी घरेलू और विदेशी बाज़ार के लिए बड़े पैमाने पर उत्पादन कर रही है जिसमें बहुसंख्य कारीगर-शिल्पी वर्ग लगा हुआ है। रामविलासजी का उद्यम भारतीय आधुनिकता की प्राक्-औपनिवेशिक उर्वर ज़मीन की शिनाख्त करना है और इस काम के लिए उन्हें मार्क्सवाद के औज़ार पर्याप्त लगते हैं। इसलिए वे मार्क्स और लेनिन के उद्धरणों का इस्तेमाल करते हुए व्यापारिक पूँजी और व्यापारियों की मौजूदगी को व्यापारिक पूँजीवाद की श्रेणी में बदल डालते हैं। रामविलासजी की इस बौद्धिक कारीगरी पर अभी तक किसी समाज-वैज्ञानिक ने ध्यान नहीं दिया है।

मार्क्सवाद की कसौटियाँ और रामविलास शर्मा का अर्ली-मॉडर्न : चूँकि रामविलासजी अपनी सारी बातों को साबित करने के लिए मार्क्स के विचारों का हवाला देते हैं, इसलिए आलोचकों द्वारा उनकी स्थापनाओं की जाँच करने के लिए मार्क्सवाद की पोथियाँ खोल कर बैठ जाना स्वाभाविक ही है। भला मार्क्सवादी होने के दावे से अपनी बौद्धिक वैधता हासिल करने वाला कोई विद्वान इस तरह की शास्त्रोक्त समीक्षा से कैसे बच सकता है! वीर भारत तलवार ने चार विशाल लेखों में *मार्क्स और पिछड़े हुए समाज* की विस्तृत आलोचना की है। उनके अनुसार 'भारत में पगार देने की प्रथा के सबूत पेश कर रामविलासजी ने दिखाया है कि : 'इस प्रथा के आधार पर यहाँ व्यापारिक पूँजीवाद का विस्तार हुआ।' रामविलासजी ने ध्यान दिलाया है कि : 'भारत के पिछड़ेपन पर जिन देशी-विदेशी विद्वानों ने लिखा है, उन्होंने पगारजीवी श्रम की परम्परा पर विचार नहीं किया।' उनका दावा है कि 'इस परम्परा से भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास के लिए जो निष्कर्ष निकलते हैं, उनकी वे कल्पना नहीं कर सकते।' वीर भारत पूछते हैं कि 'इससे निकलने वाले निष्कर्ष क्या हैं, यह रामविलासजी को ज़रूर बतलाना चाहिए क्योंकि उन्होंने ऐसे श्रम की परम्परा पर विचार किया है। लेकिन वे हमें इस बारे में साफ तौर से नहीं बतलाते, बल्कि उपर्युक्त दावे के साथ ही उनका पगारजीवी श्रम के अध्ययन वाला अध्याय खत्म हो जाता है। शायद ये निष्कर्ष जो उन्होंने अंत में पेश नहीं किए, उनके विस्तृत विवेचन में ही कहीं मौजूद हों।' [१७] वीर भारत ने रोमिला थापर, इरफ़ान हबीब और डी.डी. कोसम्बी के हवालों का इस्तेमाल करते हुए दिखाया है

[17] तलवार, उपरोक्त, पृष्ठ ८६

कि व्यापारिक पूँजी की प्रचुर मौजूदगी की बात इन इतिहासकारों ने पहले ही मान ली थी, इसलिए रामविलासजी ने इसमें कोई नई बात नहीं कही है। वीर भारत अपने श्रमसाध्य विश्लेषण के ज़रिए यह दिखाते हैं कि रामविलासजी ने मार्क्स के कथनों को तोड़-मरोड़ कर अपनी बात साबित की है। वे व्यापारिक पूँजी की मौजूदगी को इस बात का सबूत मान रहे हैं कि अगर अंग्रेज़ भारत में कदम न भी रखते तो यह पूँजी इस देश में पूँजीवाद और आधुनिकता की वाहक बन सकती थी।

मार्क्सवादी विद्वानों के बीच सामाजिक संरचनाओं को पूँजीवादी बनाने में व्यापारिक पूँजी की भूमिका पर काफी वाद-विवाद रहा है, क्योंकि इस मसले पर मार्क्स और एंगेल्स के अवलोकनों में भी अंतर था। एंगेल्स ने एक जगह तर्क दिया है कि व्यापारिक पूँजी ही वह वाहन था जिस पर सवार हो कर पूँजीवाद ने सामंती समाज को प्रतिस्थापित किया। दूसरी तरफ *कैपिटल* के तीसरे भाग के बीसवें अध्याय में मार्क्स साफ तौर पर कहते हैं कि व्यापारिक पूँजी अपने-आप में उस संक्रमण को प्रोत्साहित करने लायक क्षमता से लैस नहीं होती जिससे उत्पादन का एक रूप दूसरे में बदलता है। मार्क्स यह भी कहते हैं कि व्यापारिक पूँजी के प्रभुत्व वाली प्रणाली हर जगह पूँजीवादी उत्पादन रूपों के रास्ते में रुकावट डालती है। मार्क्स के इस विश्लेषण के बिना पर कुछ विद्वानों ने यहाँ तक कहा है कि व्यापारिक पूँजी उन स्थानीय प्रतिक्रियावादी तत्त्वों से साठगाँठ कर लेती है जो प्राक्-पूँजीवादी किस्म के होते हैं। [१८]

इस आलोचना की रोशनी में अगर रामविलासजी की समग्र परियोजना पर ध्यान दिया जाए तो उनके दो मक़सद दिखाई पड़ सकते हैं जो जिनकी शिनाख़्त उनके आलोचकों ने शायद नहीं कर पाई है। वे पगार-प्रथा और व्यापारिक पूँजी का तानाबाना इसलिए बुन रहे हैं कि किसी न किसी तरह जातियों के निर्माण और विकास की भारतीय प्रक्रिया को एक मार्क्सवादी तर्क प्रदान कर सकें। और, प्रकारांतर से यह दिखा सकें कि उत्कृष्ट और रैडिकल किस्म के दार्शनिक और साहित्यिक उत्पादन के लिए व्यापारिक पूँजी की यथेष्ट मौजूदगी आवश्यक आर्थिक-सामाजिक आधार मुहैया कराने के लिए पर्याप्त है। उनके इन दो केंद्रीय उद्देश्यों पर हम इस लेख के तीसरे खंड में विचार करेंगे। बहरहाल, रामविलासजी के इतिहास-लेखन पर सरसरी नज़र डालन से ही साफ हो जाता है कि उसमें व्यापार के समुद्री रास्तों के नेटवर्क, ताकतवर और विकासमान व्यापारिक पूँजी, सामंतशाही राज्य के साथ उसका द्वंद्व, स्थिर राजनीतिक व्यवस्था, नई प्रौद्योगिकियाँ और पगार-प्रथा के प्रमाणों का जम कर उल्लेख किया गया है। ये अर्ली-मॉडर्न इतिहास-लेखन के लक्षण हैं। वैसे, इन्हें 'अर्ली-मॉडर्न के अर्ली-सिम्टम्स' भी कहा जा सकता है, क्योंकि दक्षिण एशिया पर इस इतिहास-लेखन का वैभव नब्बे के दशक में सामने आया, जबकि रामविलासजी की सभी तत्संबंधित रचनाएँ अस्सी के दशक में ही प्रकाशित हो चुकी थीं। रामविलासजी ने मध्ययुग के शुरुआती हिस्से में और उससे पहले प्राचीन भारत में नगरों के विकास की चर्चा की है, संस्कृत साहित्य की विशद व्याख्याएँ ही हैं, भारत में दर्शन के विकास और दार्शनिकों के अखिल भारतीय नेटवर्क की तरफ ध्यान दिलाया है। इसके पीछे उनकी दिलचस्प मान्यता यह है : 'यूनान और अरबों का संबंध, भारत और अरबों का संबंध, यूनान और ईरान का संबंध, भारत और ईरान का संबंध, यूनान और अंग्रेज़ों का संबंध, भारत और अंग्रेज़ों का संबंध— यह हमारे अध्ययन का विषय है। उसमें भारत की भूमिका कैसे उभर कर आती है और किन परिस्थितियों में यहाँ दर्शन का विकास हुआ— ये सब हमारे अध्ययन का विषय है।' जाहिर है कि उनका अर्ली-मॉडर्न थोड़ा अलग किस्म का है। व्यापारिक पूँजी, जाति-निर्माण और भक्ति

[18] के, जी., *डिवेलपमेंट एंड अंडरडिवेलपमेंट : ए मार्क्सिस्ट एनालैसिस,* मैकमिलन, लंदन, १९७५; डोर, एलिज़ाबेथ और वीक्स, जॉन, इंटरनेशनल एक्सचेंज एंड कॉज़िज़ ऑव बेकवर्डनेस, *लैटिन अमेरिकन पर्सपेक्टिव्ज़,* ४.२ और ६.२, १९७९

आंदोलन के बीच गर्भनाल के रिश्तों का जैसा व्याख्यात्मक इतिहास उनकी रचनाओं में मिलता है, वह अर्ली-मॉडर्न स्कूल के इतिहासकारों के लिए दुर्लभ है। यही है वह 'क्रिएटिव कल्चरल टर्न' जिसे रामविलासजी के इतिहास लेखन की मौलिक विशेषता कहा जा सकता है।

रामविलासजी व्यापारिक पूँजी को क्यों टटोल रहे हैं, इसे और साफ करने के लिए उनका यह अवलोकन देखा जाना चाहिए कि जहाँ-जहाँ वित्त की टक्कर सामंतशाही से होती है, वहाँ-वहाँ सामाजिक धरातल पर जन्मना वर्ण-व्यवस्था को खारिज करने वाले स्वर उठते हैं। व्यापारिक पूँजी, जाति-वर्ण संबंधी अभिजात्य का निषेध, किसान-कारीगरों का उभार, साहित्य-रचना में उसकी विपुल भागीदारी और उसके परिणामस्वरूप भक्ति-काव्य के ज़रिए लोकजागरण की परिघटना का अनूठा समीकरण प्रदर्शित करने वाला ऐसा सूत्रीकरण हिंदी के मंच पर पहले कभी किसी ने पेश नहीं किया। रामविलासजी पेशेवर मार्क्सवादी विद्वान या इतिहासकार नहीं हैं। वे तो साहित्य और संस्कृति के दायरे में मार्क्सवादी युक्तियों का रचनात्मक इस्तेमाल कर रहे हैं। एक मार्क्सवादी की तरह उनका अपने-आप से यह पूछना जायज़ है कि जब सारे भारत में भक्ति काव्य उमड़ रहा था, तो उसका कोई न कोई सामाजिक-आर्थिक ज़रूर होगा। यह उसी प्रश्न का भारतीय रूप है जो उन्होंने मार्क्स पर यूनानी दर्शन के प्रभाव की टोह लेने के लिए पिछड़े समाजों में हुए दार्शनिक उन्मेष के बारे में उठाया था। वहाँ वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि यूनान में व्यापारिक पूँजी के तहत होने वाले उत्पादन में केवल दासों की भूमिका नहीं थी। उसमें पगारजीवी कारीगरों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। यही चिंतन करते-करते उन्हें भक्ति काल में साहित्य-व्यापारिक पूँजी-कारीगर वर्ग-लोकजागरण का अनूठा त्रिकोण दिखाई दिया। **उनकी स्थापना बनी : व्यापारिक पूँजी (भले ही वह सामंतवाद के खोल में विकसित हो रही हो) की सक्रियता वाले समाजों में साहित्य और दर्शन के विकास के लिए उर्वर ज़मीन तैयार होती है जिसका सामाजिक संरचनाओं पर कुछ न कुछ प्रगतिशील असर पड़ना लाजमी है।** यहाँ मैं उनका एक बहुत लम्बा उद्धरण देने का जोखिम उठा रहा हूँ। यह उद्धरण न केवल मेरे लेख के इस हिस्से के काम आएगा, बल्कि वह रामविलासजी की अन्य धारणाओं पर चर्चा करने में भी हमारी मदद करेगा :

> ... ... भक्ति तो द्रविड़ों की देन है। द्रविड़ प्रदेश में मुसलमानों का राज नहीं था। सवाल उठता है कि तमिल भाषा में भक्ति साहित्य क्यों रचा गया? तमिलनाडु में आगरा और दिल्ली से पहले व्यापारिक मंडियों का विकास हुआ। मदुरै इनका बहुत बड़ा व्यापारिक केंद्र था। इसका परिणाम यह है कि आज बोली जाने वाली भारतीय भाषाओं में सबसे पुराना साहित्य तमिल का है। दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व की तमिल भाषा और आज की तमिल भाषा में बहुत फ़र्क नहीं है अर्थात् प्रत्येक आदमी, जो आज की तमिल जानता है, उस समय की तमिल पढ़कर समझ लेगा, इतनी निरन्तरता है इस भाषा में। तमिलनाडु की विशेष परिस्थितियाँ व्यापारिक पूँजीवाद वाली परिस्थितियाँ हैं, उनको ध्यान में रखना चाहिए। सामंती खोल में व्यापारिक पूँजीवाद का विकास हुआ। पहले सिर्फ़ जमींदार और किसान थे। अब कारीगर भी हैं और व्यापारी भी। कारीगर के बिना व्यापारी माल खरीदेगा कहाँ से एवं बेचेगा कहाँ? व्यापारी और कारीगर इन दोनों का उद्‌भव लगभग एक साथ हुआ। व्यापारिक पूँजीवाद में जिस प्रकार की परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई, उनसे वित्त का चलन हुआ, उससे किसानों को थोड़ा करवट लेने का मौका मिला। अभी तक जमींदार पूरी तरह उन पर हावी थे किंतु अब जमींदार का एक प्रतिद्वंद्वी आ गया। वह उसकी जागीर का हक मानने को तैयार नहीं था। यदि जागीर के हक माने तो उसका व्यापार सीमित हो जाएगा। जब तक आप खाने-खर्चने के लिए थोड़ा-सा बनियों वाला सौदा इधर-उधर करते हैं, तब तक तो वह चलता है किंतु जहाँ आपने बाजार को फैलाना शुरू किया, वहीं यह सामंती विघटन उसके आड़े आता है। सामंतवाद से व्यापारिक पूँजीवाद की ट्क्कर होती है। वह कभी उग्र संघर्ष का रूप लेती है तो कभी सांस्कृतिक संघर्ष के रूप में सामने आती है, किन्तु यह टक्कर होती अवश्य है। इस टक्कर से दो वर्ग लाभ उठाते हैं — एक कारीगरों का वर्ग, दूसरा किसानों का। यह भक्ति आंदोलन की सामाजिक पृष्ठभूमि है। यह कार्य सबसे पहले

दक्षिण (तमिलनाडु) में हुआ। इसलिए भक्ति आंदोलन वहाँ पर पहले शुरू हुआ। शूद्र सबसे निम्न व दलित हैं, भक्ति आंदोलन का सूत्रपात्र सबसे आगे बढ़कर वही करते हैं। कबीर से पहले रामानंद ने बहुत बड़ी क्रांति की— इस बात को नहीं भूलना चाहिए। रामानंद ब्राह्मण थे और उन्होंने इस बात का प्रण किया कि खान-पान में यह जो भेद है कि शूद्र से खाना नहीं खाएँगे— यह बात ख़त्म होनी चाहिए तथा शूद्र को ब्राह्मण शिक्षा नहीं देगा, यह बात भी गलत है। इसके बाद कबीर आए। वर्ण का आधार है— जन्म, और वर्ग का आधार है— कर्म। कारीगर कोई वर्ण नहीं— यह आपका पेशा है। आप किसान हैं तो किसान जन्म से कोई जाति नहीं, किसानी एक पेशा है और किसान एक वर्ग है। तुलसीदास कहते हैं :

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख बलि
बनिक को बनिज न, चाकर को चाकरी

इसमें दो पर ध्यान दीजिए 'बनिक को' और 'किसान को'। वर्ण-व्यवस्था टूटती है और वर्ग-व्यवस्था बनती है। वर्ण-व्यवस्था की विशेषता यह है कि वह जन्म पर आधारित नहीं है। आप क्षत्रिए हैं और जमींदार हैं तो आपका बेटा जमींदार होगा। यदि बेटा जमींदार नहीं रह गया तो वर्ण-व्यवस्था टूटी। भारतीय साहित्य में सबसे मज़ेदार है— कलियुग। कलियुग का रोना लोग क्यों रोते हैं? इसलिए कि वर्ण-व्यवस्था टूट रही हैं। वर्ण-व्यवस्था का टूटना तो वे देख रहे हैं किन्तु क्यों टूट रही यह उनकी समझ में नहीं आता। टूट इसलिए रही है कि वित्त का चलन प्रारंभ हो गया है। जन्म से जो आभिजात्य है, उसकी जगह दूसरा आदमी आ गया, वित्त के कारण जो उससे श्रेष्ठ है। वित्त जन्म के ऊपर अथवा आभिजात्य के ऊपर हावी हो गया। वित्त ने बड़ी क्रांतिकारी भूमिका अदा की है। वह इन पुराने संबंधों को तोड़ रहा है। वर्ण-व्यवस्था टूट रही है और उसकी जगह वर्ग-व्यवस्था कायम हो रही है। इस परिस्थिति में व्यापारी वर्ग एवं किसान और कारीगर बागडोर सँभालने लगे। इंग्लैंड के साहित्य में किसान और कारीगर एक फीसदी भी नहीं हैं। बड़ी मुश्किल से मिलेंगे और प्रसिद्ध नाम नहीं होंगे। क्रामवेल के समय बहुत से लोगों ने कविताएँ लिखीं। वे सब कारीगर एवं किसानों के वर्ग से हैं किन्तु उनके नाम इतिहास की पुस्तकों में हम पढ़ लेते हैं। वे कोई प्रसिद्ध कवि मिल्टन अथवा शेक्सपीयर के स्तर के नहीं किंतु उनका सीधा संबंध किसानों एवं कारीगरों से है। यह सामाजिक उथल-पुथल व्यापारिक पूँजीवाद के विकास की वजह से होती है। जागीरदारों-जमींदारों की शक्ति में जो थोड़ा-सा धक्का लगता है, उससे किसान वर्ग लाभ उठाता है और यह परिस्थितियों पर निर्भर है, सांस्कृतिक विरासत पर निर्भर है तथा आर्थिक विकास के ऊपर निर्भर है कि किसान और कारीगर कितनी शक्ति से साहित्य में आए। मेरा दावा यह है कि १६वीं सदी में जितनी शक्ति से भारत के किसान और कारीगर कश्मीरी से लेकर तमिल तक और गुजराती से लेकर बंगला तक साहित्य में आए हैं उतनी शक्ति से दुनिया की किसी भाषा में किसी दूसरे देश में नहीं आए। इसका बहुत बड़ कारण एक तो हमारी सांस्कृतिक परंपरा है। महाभारत और रामायण की परंपरा है जो आदमी से कहती है— लड़, झुककर बर्दाश्त न कर, और दसूरी ओर हमारा व्यापरिक पूँजीवाद है, हमारा आर्थिक विकास है जिसकी वजह से इंग्लैंड का आदमी यहाँ का माल खरीदने के लिए आता, है, अपना माल यहाँ बेचने के लिए नहीं आथा। ये दो तथ्य हैं जो इस बात को निर्धारित करते हैं कि यहाँ किसान और कारीगर अधिक शक्ति के साथ हमारे साहित्य में प्रवेश करते हैं। यह ऐसा लोकजागरण काल है। कहाँ प्रचलित लोकोक्तियाँ समाप्त होती हैं तथा कहाँ तुलसीदास की उक्तियाँ उनका स्थान ले लेती हैं, कोई इसकी सीमा निर्धारित नहीं कर सकता। लखनऊ में हमारे घर के पीछे एक मुसलमान परिवार रहता था। वहाँ सास और उसकी बहू में रोज झगड़ा होता था और वह तुलसीदास के दोहे सुनाया करती थी। तुलसीदास घर-घर में व्याप्त हैं। यहाँ तक कि मुसलमानों के घर में भी व्याप्त थे। लोकोक्तियों के रूप में लोग उनकी चौपाइयों का, दोहों का प्रयोग करते हैं—यह हमारे यहाँ की विशेषता है।[१९]

अपने जिस साक्षात्कार में रामविलासजी ने ये विचार व्यक्त किए थे, वह मुख्यत: साहित्य का इतिहास लिखने की विधियों के बारे में था। उनका तर्क था कि इतिहास-लेखन में काल-निर्धारण समाज-व्यवस्था के आधार पर किया जाना चाहिए क्योंकि 'आधुनिक काल या मध्यकाल कहने से कोई सूत्र आपके हाथ में नहीं आता।

[19] नीरव अडालजा से रामविलास शर्मा की बातचीत, 'साहित्येतिहास पर सामाजिक पृष्ठभूमि में विचार करें', आजकल, अक्टूबर-दिसंबर, १९८७ (संकलित : *मेरे साक्षात्कार,* वही, पृष्ठ ८४-८६; इसके बाद वाला कथन भी इसी साक्षात्कार से।

मध्यकाल तो और भी उपहासास्पद है। ... ... भारत में संस्कृति की जो निरंतरता है, वह इंग्लैंड और जर्मनी में नहीं है। वैदिक काल के बाद एक हज़ार वर्ष तक आपने अंधकार का युग मान लिया। किंतु मौर्य काल से अंग्रेज़ों के आने तक हमारे यहाँ संस्कृति की निरंतरता बनी हुई है। ऐसा नहीं है कि काशी, मथुरा, उज्जयिनी, मदुरै— ये जो प्रसिद्ध नगर हैं इनके चिराग़ हमेशा के लिए गुल हो गए हों या ये देहात बन गए हों। ऐसा कोई समय हमारे यहाँ नहीं है। तो हम अपने यहाँ मध्यकाल की बात क्यों करें। और मध्यकाल कह कर आप कौन सी समाज-व्यवस्था की तरफ संकेत करते हैं? लोगों ने समाज-व्यवस्था को आधार बनाया ही नहीं। और वे समझते हैं कि साहित्य समाज-व्यवस्था से स्वतंत्र है। इसलिए उसका काल भी स्वतंत्र है और हम चाहे उसे आधुनिक कह दें, मध्य कह दें, प्राचीन कह दें, सब चलेगा। इसीलिए आदिकाल भी गलत है।' स्पष्ट है कि उनके ये तमाम आग्रह न केवल अर्ली-मॉडर्न इतिहास-लेखन जैसे हैं, बल्कि उसी दिशा में चलते हुए उसके परे जाते हैं और सारे भारत को अपने आगोश में समेटने की दावत देते हैं।

मार्क्सवाद और आधुनिकता का खूँटा : ऐसी बात नहीं कि रामविलासजी के अर्ली-मॉडर्न में कमियाँ न हों। उसमें खूबियाँ ही नहीं, कमियाँ भी वही हैं जो इतिहास-लेखन की इस प्रवृत्ति में समग्र रूप से पाई जाती हैं। रामविलासजी के मार्क्सवादी आलोचकों के भीतर छिपे हुए उनके प्रशंसक को यह देख कर कुछ गुदगुदी महसूस हो सकती है कि जैक गोल्डस्टोन ने इस प्रवृत्ति को कड़ाई से आड़े हाथों लेते हुए कहा है कि यह इतिहास के विकास को चरणबद्ध ढंग से दिखाने की मार्क्सवादी थियरी प्रमाणित करने की नई कोशिश है। चूँकि सामंतवाद और औद्योगिक पूँजीवाद के बीच के अंतराल को पाटना था इसलिए व्यापारिक पूँजी की मदद ली गई, उसके ज़रिए एक ग़ैर-सामंती मोड ऑव प्रोडक्शन दिखाया गया, ताकि इतिहास की चालक शक्ति बेखटके उत्पादक शक्तियों के विकास के सुपुर्द की जा सके। गोल्डस्टोन यह भी कहते हैं कि दरअसल यह पश्चिमी इतिहास की श्रेणियों को पूर्व के समाजों पर आरोपित करने की ही एक युक्ति है।[२०] इसी जगह हम गोल्डस्टोन की इस आलोचना को भी नज़रअंदाज़ नहीं कर सकते कि व्यापारिक पूँजी की गतिविधियाँ तो पूरे एशिया में चार हज़ार साल पहले भी दिखाई पड़ती हैं। वे पूछते हैं कि 'क्या यह दावा करना सार्थक होगा कि असीरिया के प्राचीन बंदरगाहों, मिस्र, बेबीलोन, दसवीं सदी के चीन और ग्यारहवीं सदी के जावा में होने वाली व्यापारिक पूँजी की गतिविधियाँ इन क्षेत्रों के पूर्ण आधुनिकता में संक्रमण की नुमाइंदगी कर रही थीं। क्या यह तर्क दिया जा सकता है कि इन समाजों में अट्ठारहवीं सदी के इंग्लैंड और उन्नीसवीं सदी फ्रांस के साथ समानताएँ थीं?' मुझे लगता है कि भारत के संदर्भ में गोल्डस्टोन से भी ज़्यादा गहरी आलोचना प्रथमा बनर्जी की है। वे कहती हैं कि अर्ली-मॉडर्न श्रेणी का इस्तेमाल करने से भारत में विकसित हुई विचार-प्रक्रिया और इतिहास पर बेवजह ही आधुनिकता का रुतबा गालिब हो जाता है। प्रथमा आधुनिक को अंतहीन और कालातीत बनाने के खिलाफ हैं; और चाहती हैं कि आज की श्रेणियों में फँसने से इनकार करने वाले अतीत के साथ हमारी समकालीनता के संबंधों को खुला रखा जाए।[२१]

आज अगर रामविलासजी होते, और उन्हें इस आलोचना से अवगत कराया जाता कि आपने खुद को मार्क्सवाद और आधुनिकता के खूँटे से क्यों बाँध रखा है, तो वे क्या कहते? वे आलोचनाओं का जवाब देते हों या न देते हों, पर उन्हें सुन कर अपनी स्थापनाओं का प्रतिरक्षा-तंत्र मज़बूत करने का यत्न ज़रूर करते थे। इसी प्रक्रिया में

[20] गोल्डस्टोन, उपरोक्त।

[21] बनर्जी, उपरोक्त।

उन्होंने भारतीय और यूरोपीय सामंतवाद के बीच, भारत और यूरोप के स्वच्छंदतावाद (रोमांटिसिज़म) के बीच और भारत और यूरोप के राष्ट्रवाद के बीच फ़र्क दिखाने की कोशिश भी की थी। हालाँकि इस हक़ीक़त से इनकार नहीं किया जा सकता कि एक सांस्कृतिक इतिहासकार के रूप में उनकी परियोजना भारतीय समाज की उन आंतरिक शक्तियों को सामने लाने की थी जो अगर बेरोकटोक विकसित होती रहतीं तो आगे चल कर भारत को आधुनिक दुनिया में प्रतिष्ठित कर सकती थीं, लेकिन हमें यह भी देखना होगा कि मार्क्सवाद और आधुनिकता के खूँटे से वे कहाँ बँधे और कहाँ खुले थे।

वे अंग्रेज़ों को भारतीय आधुनिकता के विकास का कोई श्रेय देने के लिए तैयार नहीं थे। मार्क्स के निष्कर्षों (ब्रिटिश साम्राज्य की अनभिप्रेत प्रगतिशील भूमिका) को खारिज करने और 'अंग्रेज़ी ज़माने में भारत का देहातीकरण हुआ' का दावा करने की प्रक्रिया में रामिवलासजी खुद को उस विद्वत्ता से जोड़ लेते हैं जिसने विस्तृत शोध करके दिखाया है कि उन्नीसवीं सदी से ही भारत का वि-उद्योगीकरण शुरू हो गया था जो १९३१ तक चलता रहा। यह एक पुराना विवाद है जो बीसवीं सदी के शुरुआती सालों में आर्थिक इतिहासकार रमेश चंद्र दत्त और विलियम डिग्बी की रचनाओं से शुरू हुआ। दत्त ने विस्तार से आँकड़े देते हुए दिखाया था कि ब्रिटिश आर्थिक नीति के परिणामस्वरूप भारत के दस्तकारी उत्पादन में ज़बरदस्त गिरावट आई और उसकी भरपायी के रूप में औद्योगिक उत्पादन में बढ़ोतरी नहीं हुई। इसका नतीजा भारतीय अर्थव्यवस्था पहले से कहीं ज़्यादा खेती पर निर्भर होने के लिए मजबूर हो गई। जिन ब्रिटिश अधिकारियों ने इस स्थापना का विरोध किया, उनसे विपिन चंद्र वगैरह ने साठ के दशक में मोर्चा लिया। इसके बाद डैनियल थॉर्नर ने १८८१ से १९३१ के बीच जनगणना के आँकड़ों का सहारा लेकर भारत में औद्यगिक श्रम-शक्ति की तत्कालीन स्थिति की जाँच करते हुए वि-उद्योगीकरण की थीसिस का विरोध किया। उन्होंने यह दिखाने की कोशिश की कि अर्थव्यवस्था का देहातीकरण अगर कभी हुआ भी था जो वह अवधि १८१५ और १८८० के बीच की रही होगी। थॉर्नर साम्राज्यवाद के पक्षपोषक तो नहीं ही थे, पर उनकी मार्क्सवादी निष्ठाएँ स्पष्ट थीं। उन्हें पहला जवाब जे. कृष्णमूर्ति ने यह कह कर दिया कि भले ही औद्योगिक श्रम-शक्ति न घटी हो, लेकिन प्रति-व्यक्ति उत्पादन में आई गिरावट वि-उद्योगीकरण की स्थापना को सही ठहराती है। १९७५ में राघवेंद्र चट्टोपाध्याय ने थॉर्नर की दावेदारियों और कृष्णमूर्ति द्वारा उन्हें दिए गए जवाब का विधिवत अध्ययन करके थॉर्नर की पद्धति की खामियाँ बताईं और कृष्णमूर्ति के तर्क को भी अपर्याप्त ठहराया। उन्होंने एक वैकल्पिक कसौटी तैयार करके विस्तार से दिखाया कि अंग्रेज़ी शासन के तहत न केवल कुल श्रम-शक्ति और औद्योगिक श्रम-शक्ति में गिरावट आई, बल्कि भारत की राष्ट्रीय आमदनी भी कतई नहीं बढ़ी। न ही मज़दूरों के वेतन में कोई वृद्धि हुई। यानी बीस और तीस के दशक में जिस समय गाँधी ने उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन चलाया, उस समय तक अंग्रेज़ी हुकूमत के परिणामस्वरूप भारत अर्थव्यवस्था खेतिहर उत्पादन पर निर्भर रहते हुए पूरी तरह से जड़ता की शिकार हो चुकी थी। [२२]

हमें पता है कि रामविलासजी ने सत्तर का दशक (पूरे ग्यारह साल) भाषा-विज्ञान पर काम करते हुए बिताए। लेकिन वे खुद बताते हैं कि उनके दिमाग में लगातार यह प्रश्न मौजूद रहा। उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी की पचासवीं सालगिरह के मौके पर प्रकाशित डांगे के उस लेख से खुद को पूरी तरह असहमत पाया जो मार्क्स की भारत संबंधी टिप्पणियों का सहारा लेकर भारतीय समाज को परिवर्तनरोधी दिखाने पर तुले हुए थे। अस्सी के दशक में

[22] चट्टोपाध्याय, राघवेंद्र, 'डि-इंडस्ट्रियलाइज़ेशन इन इंडिया रिकंसीडर्ड', *इकॉनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली,* खंड १०, अंक १२, २२ मार्च १९७५, पृष्ठ ५२३+५२५-५३१

भारत पर अंग्रेज़ी राज के प्रभावों का अध्ययन करने का प्रोजेक्ट शुरू करते हुए उन्होंने अपनी मार्क्सवादी निष्ठाओं को उन तथ्यों के ऊपर हावी नहीं होने दिया जिनका ज़िक्र ऊपर के पैरे में किया गया है। उन्होंने इसकी चिंता नहीं की कि वे मार्क्स का बेजा इस्तेमाल कर रहे हैं या वाजिब। पहले उन्होंने वणिकवाद (मर्केंटलिज़म) को व्यापारिक पूँजीवाद की संज्ञा दी जो मार्क्स द्वारा प्रतिपादित श्रेणियों के लिहाज से काफी विवादास्पद था : 'हमें व्यापारिक पूँजीवाद जैसी किसी कोटि को मानना चाहिए या नहीं? ... ... विनिमय में विकास होगा, बाज़ार निर्मित होगा तब उसके बाद उद्योग-धंधों के विकास की ज़रूरत पड़ेगी। अगर बड़ा बाज़ार पहले से है नहीं तो माल किसके लिए तैयार करेंगे? ... ... फिर इसे व्यापारिक पूँजीवाद क्यों कहते हैं? ... व्यापारिक पूँजीवाद में व्यापारी का प्रभुत्व होता है, औद्योगिक पूँजीवाद में उद्योगपति का प्रभुत्व होता है और महाजनी पूँजीवाद में इन दोनों को दबा कर महाजन सबसे ऊपर रहता है। ... व्यापारिक पूँजीवाद में उत्पादन की क्या भूमिका थी? ... भारत में कारीगरों की बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। उनको पगार देने की प्रथा थी। कौटिल्य के समय में यह प्रथा इतनी बढ़ी हुई थी कि राजा और राजघराने के लोग भी पगार पाते थे। राजा के बड़े बेटे से अधिक पगार राज्य का सबसे बड़े मिस्त्री को दी जाती थी। ... उत्पादन का विकास इस बात पर निर्भर है कि आप कारीगर को कैसे रखते हैं। भारत गोदाम बना हआ था सूती माल का— पगार प्रथा के कारण ही। हिंदुस्तान में लूटमार बहुत हुई। मैंने सवाल उठाया है कि दौलत लूट ले गए, फिर दौलत कैसे पैदा हुई। इसका उत्तर पगार-प्रथा है। चूँकि पगार-प्रथा का नाश नहीं हुआ, इसलिए हिंदुस्तान के नगर पूरी तरह से कभी तबाह नहीं हुए। थोड़ी देर के लिए देश पिछड़ा, फिर उठा। अंग्रेज़ी राज में जिस तरह का देहातीकरण हुआ, वैसा इस देश में कभी नहीं हुआ। एक सीधा सा प्रश्न है कि अंग्रेज़ी राज कायम होने के बाद देहात की आबादी बढ़ी या घटी? आम तौर से हम जानते हैं कि देहात की आबादी बढ़ी। उद्योगीकरण हो रहा है तो देहात की आबादी कम होनी चाहिए, शहर की आबादी बढ़नी चाहिए। यहाँ उल्टी प्रक्रिया है। यह सीधी सी बात लोगों की समझ में नहीं आती।' [२३]

यहाँ पर रामविलास शर्मा की एक खास प्रवृत्ति सामने आती है। अपने विशिष्ट अंदाज़ में उन्होंने खुद को मार्क्सवादी बनाए रखते हुए मार्क्स के निष्कर्षों का खंडन किया। उन्होंने दो दिलचस्प तर्क विकसित किए। पहला, मार्क्स का अध्ययन उनके निष्कर्षों के लिए नहीं बल्कि उनकी चिंतन-पद्धति के लिए किया जाना चाहिए। दूसरा, मार्क्स का चिंतन विकासमान था और उनके विचार बदलते रहते थे। उनके विचार इंग्लैंड के बारे में बदले, आयरलैंड के बारे में बदले, और इसी के आगे रामविलासजी यह भी कहते हैं कि उनके भारत के बारे में भी विचार बदले। अब यह स्पष्ट नहीं होता कि मार्क्स के भारत संबंधी विचार कहाँ और कितने बदले। हाँ, एक जगह वे बताते हैं कि १८५३ में मार्क्स ने पंचायतों को नकारात्मक तत्त्व के रूप में देखा था, पर १८८१ में जो पत्र लिखे उनमें पंचायतों के सकारात्मक पक्ष पर ज़ोर दिया। इतना ज़रूर दिखता है कि मार्क्स अपने भारत संबंधी आग्रहों पर बहुत दृढ़ नहीं थे। जिस एशियायी उत्पादन विधि के आईने में मार्क्स ने भारत की सामाजिक जड़ता देखी थी, उसके ऊपर उन्होंने दोबारा लौट कर कभी विचार नहीं किया। बहरहाल, रामविलास शर्मा खुद को जिन दो खूँटों से बँधा पाते थे, उनमें से एक यानी मार्क्सवाद से उनके संबंधों पर विचार करने के बाद लेख के अगले खंड में हम आधुनिकता से उनके संबंधों पर गौर करेंगे।

[23] अगस्त, १९८८ के *साँचा* में प्रकाशित सुधीर रंजन सिंह से रामविलास शर्मा की बातचीत, 'इतिहास और दर्शन की समस्याएँ', (संकलित : *मेरे साक्षात्कार,* पृष्ठ १७०-१७२

II
हिंदी का मार्क्सवाद और परम्परा की आधुनिकता

आधुनिकता के किसी भी झंडाबरदार के लिए परम्परा के साथ अपना रिश्ता परिभाषित करना आसान नहीं है। देखा गया है कि मार्क्सवाद से अ-प्रभावित रह गया आधुनिक मानस यह रिश्ता अपेक्षाकृत अधिक सहजता से बना लेता है। लेकिन जो मार्क्सवादी हो गया, उस आधुनिक को दिक्कत होती है। उसके गले में परम्परा छछूँदर की तरह अटक जाती है। आगे चल कर हम देखेंगे कि समाज-विज्ञान के क्षेत्र में मोटे तौर पर वामपंथी पर ग़ैर-मार्क्सवादी आधुनिकों ने किस सैद्धांतिक कुशलता के साथ परम्परा को आधुनिकता के संयोग में संसाधित किया है, और इस सैद्धांतिक कौशल का मार्क्सवादी संस्करण केवल रामविलास शर्मा के यहाँ ही मिलता है।

आज़ादी के फौरन बाद यानी १९४८ के बाद से ही हिंदी साहित्य-जगत में खुद को मार्क्सवाद से जुड़े लोगों के बीच परम्परा और आधुनिकता को लेकर भीषण बहस छिड़ गई थी।[२४] १९४९ से १९५३ के बीच प्रगतिशील लेखक संघ के महासचिव रहे रामविलास शर्मा उस ज़माने में इस बहस के प्रमुख किरदारों में से एक थे। बहस में प्रगतिशील लेखक संघ की तत्कालीन राजनीति, कम्युनिस्ट पार्टी पर हावी बी.टी. रणदिवे की लाइन, पी.सी. जोशी द्वारा की गई राजनीति और संस्कृति के संबंधों की व्याख्या और नम्बूद्रीपाद का लेखक संघ के प्रति रवैया भी तैर रहा था। अपनी विपुलता और विविधता के कारण हिंदी-मार्क्सवाद के इस प्रकरण पर अलग से विस्तृत शोध की आवश्यकता है, क्योंकि इसके बिना मार्क्सवादियों द्वारा किए गए परम्परा के विभिन्न मूल्यांकनों की समीक्षा अधूरी रह जाएगी। फिलहाल हमारा काम एक लंबे उद्धरण से चल जाएगा। अपनी स्वघोषित मार्क्सवादी निष्ठाओं के लिए सुपरिचित, और हाल ही में पुरस्कृत, उदीयमान आलोचक संजीव कुमार ने इस बहस में रामविलासजी की भूमिका की समीक्षा इस तरह की है :

> मैं उन बहसों के रास्ते हिंदी के मार्क्सवाद की रूपरेखा उभारना चाहता हूँ, जो प्रगतिशील आंदोलन के विकास के साथ-साथ हिंदी के मार्क्सवादियों के बीच शुरू हुईं और जिनमें मत-विभाजन के द्वारा जीत-हार का फ़ैसला होते ज़्यादा देर नहीं लगी। इन बहसों में किस तरह के उपागमों और तर्कों को हाशिये पर जाना पड़ा, और किनसे मार्क्सवादी मुख्यधारा का निर्माण हुआ, यह देखना वस्तुत: हिंदी के प्रभावी मार्क्सवादी मिज़ाज का साक्षात्कार करना है। भक्ति आंदोलन की विभिन्न धाराएँ, उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध का हिंदी परिदृश्य, हिंदी की प्रकृति और भाषा तथा जातीयता के सवाल, अपनी समकालीन रचनाशीलता के संदर्भ में वर्गीय अंतर्वस्तु, यौन-नैतिकता आदि के सवाल— इन सबको लेकर मार्क्सवादियों के बीच बहसें चलीं और लगभग सभी मुद्दों पर ऐसे उपागमों एवं तर्कों को संख्या-बल से जीत मिली, जो अपनी परम्परा, अपनी भाषा, अपने राष्ट्र के प्रति गौरव-भावना को जगाने / सहलाने में सक्षम थे, तथा पूरी क्रांतिकारी मुद्रा के बावजूद ढेर सारे सामाजिक-नैतिक सवालों पर एक राष्ट्रवादी-सवर्ण-हिंदू-पुरुष मन के लिए ज़्यादा असुविधाजनक नहीं थे। इसके लिए, ज़ाहिर है, कई जगह मार्क्सवादी विश्व-दृष्टि का 'सार' और 'थोथा' अपने तरीक़े से तय करना पड़ा था (सार-सार को गहि लियो, थोथा दई उड़ाय), और उसके बाद भी जो तथ्य विसंवादी ठहरते थे, उन्हें चटक लाल गलीचे के नीचे दबा देना पड़ा था। इसका श्रेय व्यापक रूप से डॉ. रामविलास शर्मा को जाता है। उनकी कुछ बातों से हिंदी के बहुसंख्यक मार्क्सवादियों की मुखर सहमति न होने के बावजूद यह कहना ग़लत न होगा कि रामविलासजी का मार्क्सवाद ही हिंदी का विजेता मार्क्सवाद है।
>
> उक्त सभी मुद्दों पर शिवदान सिंह चौहान, रांगेय राघव, प्रकाशचंद्र गुप्त, यशपाल आदि ने जो विश्लेषण सामने रखा, वह मार्क्सवादियों के मत-विभाजन में पराजित ही नहीं रहा, उसे दोहराने, सराहने या विकसित करने वाले

[24] नामवर सिंह ने एक जगह कहा है, '१९४८ के बाद हिंदी में वह दौर शुरू हुआ, जिसमें 'परम्परा और आधुनिकता' पर बहस की शुरुआत हुई, इस बहस में रामविलासजी ने कभी भाग लिया हो, याद नहीं आता।', उद्धरित : राजेंद्र कुमार, 'परम्परा, इतिहास और रामविलास शर्मा', बुधवार, उपरोक्त।

आलोचक मार्क्सवादियों के बीच हमेशा अल्पमत में रहे। इन्हें 'प्रगतिशील आंदोलन का झाड़-झंखाड़' (चंद्रबली सिंह के शब्द) मानने वाली दृष्टि ही प्रबल रही। चंद्रबली सिंह के इस रूपक में निहित साधर्म्य (तुलना की जाने वाली दो चीज़ों के बीच का वह समान गुण जो रूपक का आधार बनता है) को अगर थोड़ा बदल दें, तो ये सचमुच झाड़-झंखाड़ थे— कँटीले, असुविधाजनक, प्रदत्त संस्कारों के साथ प्रगति के विचार का तालमेल बिठाने की कोशिशों में बाधक। इन्हें परे हटा कर उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के परिवेश में संस्कारित मन ने मार्क्सवाद को अपने लिए अनुकूलित कर लिया। अब तरक़्क़ीपसंद और क्रांतिकारी कहलाने के लिए अपने संस्कारों के साथ कोई तक़लीफ़देह लड़ाई लड़ने की ज़रूरत नहीं रह गई।

रामविलास शर्मा एक हिंदीदाँ को अपनी पूरी परम्परा पर गर्व करने का काफ़ी मौक़ा देते हैं। उस मौक़े के लिए उनके पास बहुत बृहद ढाँचा है। शुरुआत तो करते हैं वे तुलसी दास से। नवजागरण की बात जब करते हैं तो पूरे विस्तार के साथ बतलाते हैं कि हिंदी प्रदेश के उस समय के बुद्धिजीवी, साठ-सत्तर-अस्सी के दशकों के, वे एक ऐसा नवजागरण लाए जो बंगाल और महाराष्ट्र के नवजागरण से कहीं आगे है। यानी अगर कोई यह कहता है कि भारतीय नवजागरण के मूलत: दो ही वेरिएंट्स है, बंगाल और महाराष्ट्र, तो वह हिंदी के उन तमाम विद्वानों की अनदेखी कर रहा है जिन्होंने उस समय *कविवचन सुधा, ब्राह्मण* और *हिंदी प्रदीप* जैसी पत्रिकाओं में लिखा। हाँ, यह ज़रूर है कि यह मूलत: उन लेखकों के भीतर का नवजागरण था। यानी वे बहुत बड़े पैमाने पर समाज-सुधार में लगे नहीं थे, पर वह एक अद्‌भुत बौद्धिक नवजागरण था। और वे कहते हैं कि इस नवजागरण का पहला चरण तो अठ्ठारह सौ सत्तावन है जो मूलत: हिंदी प्रदेश की क्रांति है। इस हिंदी प्रदेश के किसानों ने सामंतों के साथ मिल कर और कई जगह सामंतों के विरुद्ध बड़ा संग्राम चलाया। इस संग्राम में वो बंगाल में गए हुए अवध के सैनिक, जिन्होंने विद्रोह की शुरुआत की, उन लोगों ने मद्रास और दूसरी जगह के सैनिकों से मदद माँगी, जो भारतीय थे। किसी ने मदद नहीं की। यानी इस देश में जो कई नैशनलिटीज़ हैं, उनमें हिंदी नैशनलिटी ऐसी है, जिसे भारत के प्रथम स्वाधीनता संग्राम का श्रेय जाता है। दूसरी नैशनलटीज़ ने उसका साथ नहीं दिया। दूसरी जातियों ने उसमें उनका कोई साथ नहीं दिया। और इसके साथ-साथ वे बहुत पीछे तक जाते हैं। मतलब उनका यही है कि जो एक बार सोच लिया उसके हिसाब से उसका बृहद ढाँचा तैयार करना है। तो वे बहुत पीछे तक जाते हैं। वे इस हद तक जाते हैं कि अंतत: कहते हैं कि नहीं, आर्य आक्रमणकारी नहीं थे। वे इस ज़मीन के ही थे। और इसकी झलक मिलती है उनकी १९५६ की एक किताब में। *मानव-सभ्यता का विकास* नाम की पुस्तक, जिसमें मार्क्सवाद को सरल शब्दों में समझाया गया है, उस में ही वे एक जगह यह कहते है कि इतिहासकार बताते हैं कि आर्य बाहर से आए थे। फिर कोष्ठक में लिखते हैं, लेकिन यह विवादास्पद मत है। तो एक तैयारी सी दिखती है कि इस विवादास्पद मत को अंतत: ख़ारिज करेंगे! और उस आर्य यहाँ के थे तीन गण थे— भरत, मगध और कोसल। और भरत गण जो है वह जब पुरु गण के साथ मिल गया तो कुरु गण बना। इन गण समाजों से फिर जन-समाज यानी जनपद विकसित हुए। उन जनपदों में एकता आने का काम शुरू हुआ व्यापारिक पूँजी के युग में। उस एकता के आने की वजह से हिंदी-जाति का गठन शुरू हुआ और यह हिंदी-जाति वही है जो मूलत: भरत और कोसल गणों से बनी है? और भरत वे गण हैं जिसके नाम पर यह भारत है। तो मतलब हिंदी-जाति को मिलाकर चलना इस देश की राष्ट्रीय एकता के लिए बहुत ज़रूरी है। और इस हिंदी-जाति को अलग-अलग प्रांतों में बाँटने की जो साज़िश है, इस साज़िश को अब विफल किया जाना चाहिए, और पूरा हिंदी प्रदेश एक राज्य के रूप में होना चाहिए। और इसीलिए उसके बाद के जितने भी टुकड़े हैं, हिंदी प्रदेश के राज्यों के वे टुकड़े और भी ज़्यादा साज़िश की पैदावार लगते हैं। तो, कुल मिला कर यह एक विराट आख्यान उनके यहाँ उभर कर आता है जो अपनी परम्परा पर पूरा गर्व करना सिखलाता है हमें, हमारी परम्परा के जितने भी अतर्विरोध रहे हैं, उसकी फाँकें रही हैं, उनको ढँक देना सिखलाता है।[२५]

शिमला के उच्च अध्ययन संस्थान में की गई अपनी इस लंबी प्रस्तुति में संजीव ने एक अन्य जगह वीर भारत तलवार द्वारा की गई आलोचना और *कैपिटल* के अपने अध्ययन के हवाले से व्यापारिक पूँजीवाद की रामविलासीय धारणा का ग़ैर-मार्क्सवादी चरित्र स्पष्ट करने की कोशिश की है। वीर भारत की आलोचना का ज़िक्र ऊपर किया जा चुका है। साथ ही हम यह भी देख चुके हैं कि रामविलासजी की इतिहास-दृष्टि और उस

[25] संजीव कुमार, उपरोक्त।

पर आधारित उनके विस्तृत विवरण अर्ली-मॉडर्न खोजने वाले इतिहासकारों से कितने मिलते हैं। बस उन्होंने थोड़ी सी ज़्यादती यह ज़रूर की है कि अर्ली-मॉडर्न इतिहास-लेखन के लिए जो व्यापारिक पूँजी एक मोड ऑव प्रोडक्शन की हैसियत रखती है, उसे अपनी अंतदृष्टियों के सहारे व्यापारिक पूँजीवाद की सम्पूर्ण श्रेणी में बदल दिया है। बहरहाल, यह मेरा निष्कर्ष है। पर संजीव यहाँ अपने लिहाज़ से रामविलास शर्मा के हर पहलू पर चोट करते हुए उनकी सभी स्थापनाओं को पूरी तरह से नकारते हुए दिखते हैं।

संजीव ने जिस प्रकार की आलोचना की है उसका हिंदी की दुनिया में नरम जवाब भी मौजूद है, और मुँहतोड़ उत्तर भी। जिन राहुल, रांगेय राघव और शिवदान सिंह चौहान को वे हिंदी के पराजित, पर आदर्श और सही मार्क्सवाद के तौर पर दिखाते हैं, उनका नाम लिए बिना विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है कि 'प्रगतिशील आलोचना प्रारम्भ में अतीत के विरुद्ध एक प्रकार की जिहादी भावना से निर्णय देती थी। अतीत प्रतिक्रियावादी है, वर्तमान विषय है, भविष्य उत्तरोत्तर बेहतर होता जाएगा; यही बात साहित्य के बारे में भी लागू की जाती थी। आदिकालीन काव्य, भक्तिकालीन काव्य, छायावादी काव्य— सबको साम्य विरोधी या वर्णाश्रमी ब्राह्मणवादी घोषित किया जाता था। अतीत में पहुँच कर आलोचना की दृष्टि द्वंद्व और अंतर्विरोध से रहित हो जाती थी।' [२६] संजीव की निगाह में शायद प्रोफेसर त्रिपाठी भी उसी संस्कारित 'राष्ट्रवादी-हिंदू-पुरुष मन' की श्रेणी में आएँगे जो उनके अनुसार रामविलास शर्मा की परम्परा संबंधी समझ की देन है। लेकिन, इस नरम जवाब के साथ तुर्की-ब-तुर्की जवाब भी है। रामविलासजी को प्रगतिशील हिंदी आलोचना का सर्वोच्च नायक मानने वालों की तरफ से अजय तिवारी ने दिखाया है कि 'शिवदानजी ने ... छायावाद को हिंदू महासभा और मुस्लिम लीग से ज़्यादा खतरनाक बताया था। मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' को हिंदू फासिस्टों के लिए बाइबिल बनने योग्य बताया था।' अजय तिवारी के अनुसार शिवदान सिंह चौहान संत साहित्य को वैराग्य में डूबा हुआ, रीति साहित्य को व्यभिचार में लिप्त मानते थे। वे भारतेंदु-युग के शैशव काल के बाद सारे साहित्य को फासिस्ट करार देते थे। भाकपा के एक नेता '... भवानी सेन ने रवींद्र गुप्त नाम से लिखा था कि रवींद्र नाथ ठाकुर के विचारों का हिंदू महासभा और राष्ट्रीय स्वंय सेवक संघ से कोई पार्थक्य नहीं है। ... राहुलजी ने वाल्मीकि को शुग वंश का और कालिदास को गुप्त सम्राटों का चाटुकार घोषित किया। तुलसी तो खैर ब्राह्मणवादी-प्रतिक्रियावादी थे ही।' [२७] अजय तिवारी के इस विवरण में मैं यहाँ एक और फ़िकरा जोड़ देना चाहता हूँ जिसे मैंने शिवदानीय आलोचना के संदर्भ में कहीं सुना है कि अगर चौहान साहब की चलती तो वे सोलहवीं सदी में तुलसी दास को ब्राह्मण सभा का और कबीर दास को सीपीएम का सेक्रेटरी बना कर दम लेते। जाहिर है कि हिंदी साहित्य की यह मार्क्सवादी बहस यहीं खत्म नहीं होती। इसमें आगे चल कर मुक्तिबोध भी जुड़ते हैं जिनकी कई प्रश्नों पर (जिनमें एक दिनकर की *उर्वशी* का मूल्यांकन भी है) रामविलासजी से ठनती है।

शिमला के जिस वर्कशॉप में संजीव ने अपना विश्लेषण पेश किया था, उसी में उनकी प्रस्तुति पर तुरंत कई प्रतिक्रियाएँ हुई थीं जिनमें दो दृष्टव्य हैं। हिंदी साहित्य के भीतर चलने वाली बहस से थोड़ा परे हटते हुए इन दोनों को यहाँ इसलिए दिया जा रहा है कि परम्परा, आधुनिकता और मार्क्सवाद के रिश्ते पर एक वैश्विक परिप्रेक्ष्य सामने आ सके :

---

[26] त्रिपाठी, विश्वनाथ, उपरोक्त।

[27] तिवारी, अजय, 'रामविलास शर्मा : प्रगतिशीलता के विवाद', *वसुधा-५१,* पृष्ठ १६०-१७६

संजीव ने एक बात इसमें कही है कि रामविलास शर्मा के प्रभाव के कारण हिंदी के मार्क्सवादियों के लिए तरक़्क़ीपसन्द और क्रांतिकारी कहलाने के लिए अपने संस्कारों के साथ कोई तक़लीफ़देह लड़ाई की ज़रूरत नहीं रह गई है। तो जब वे यह कहते हैं तो ऐसा लगता है कि समाज-परिवर्तन और व्यक्ति के बदलने की प्रक्रिया के बारे में वह एक ख़ास क़िस्म का वक्तव्य दे रहे हैं। वे मार्क्सवाद को एक ऐसे टूल के रूप में देखते हैं जिसके ज़रिए आदमी को रैडिकली बदल जाना चाहिए। उसे अपने शताब्दियों पुराने, पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसके जीन्स में शामिल हो चुके तमाम संस्कारों को छोड़ देना चाहिए। इस लिहाज़ से उन्हें मार्क्सवाद से एक रैडिकल पुश की, एक ऐसे धक्के की भूमिका निभाने की उम्मीद है जो इनसान की चेतना से, उसकी मानसिकता से और उसके दिमाग़ से उसके जड़ जमाए बैठे तमाम संस्कारों को निकाल कर बाहर कर देगा। चाहे वे संस्कार धार्मिक हों, सभ्यतामूलक हों, जातीय हों या सांस्कृतिक हों। और अगर मार्क्सवाद इस तरह की भूमिका नहीं निभा पा रहा है तो फिर ... जो भी चीज़ बन रही है मार्क्सवाद के नाम पर, उस पर फिर आपत्ति की जा सकती है। ... उनकी बात मार्क्सवाद को एक ऐसे रैडिकल धक्के के रूप में ग्रहण करने के बारे में है। मैं जानना चाहूँगा कि क्या यूरोप में भी मार्क्सवाद को ऐसे ही रैडिकल धक्के के रूप में ग्रहण किया गया था जिसकी उम्मीद हम हिंदी की दुनिया से कर रहे हैं? क्या यूरोप के विचारकों और चिंतकों ने अपने पूरे ईसाई और यहूदी विचारों को छोड़ दिया, उस मानस को एकदम धो डाला? मार्क्सवाद के कारण चिंतन के धरातल पर जो विश्लेषण और संश्लेषण हुआ, क्या उसके कारण वे अपना वैचारिक अतीत त्याग कर बिल्कुल एकदम शुद्ध न्यूक्लियर इनसान बन गए। एक ऐसे इनसान बन गए जो किसी भी क़िस्म की परम्पराओं और पुराने संस्कारों, अध्यात्म, रहस्यवाद जैसी किसी भी चीज़ से पूरी तरीक़े से धुला-पुँछा था? उसके अंदर सिर्फ़ द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और ऐतिहासिक भौतिकवाद रह गया? और इसके अलावा कुछ नहीं? ख़ास तौर से मैं फ्रेंकफर्ट स्कूल के सिद्धांतकारों, जो साहित्यकारों और संस्कृति की दुनिया में बहुत लोकप्रिय हैं और जिनका बड़े पैमाने पर उल्लेख किया जाता है, बड़े पैमाने पर उनके उद्धरण दिए जाते हैं, ... उनके अंदर का जो यहूदी और यहूदी रहस्यवाद है और ईसाईपन है वह उनके मार्क्सवाद के साथ कैसे सहअस्तित्व में रहता है? [२८]

फ्रेंकफर्ट स्कूल में ईसाइयत और यहूदी की स्थिति क्या है? पोलैंड ले लो, रूस ले लो, कुछ चंद आइडियॉलॉग की बात नहीं है केवल। क्या एंटीसेमेटिज़म रूस में या पोलैंड में कहीं कम हुआ? तो इस पर भी हमें ग़ौर करना होगा। तो मार्क्सवाद तो है ही, राष्ट्रवाद एक दूसरा मुखौटा मुहैया करा देता है। सोवियत विघटन के बाद राष्ट्रवाद की विजय नहीं हो रही तो और फिर यह क्या है? इतने दिनों तक हमने इसे दबा रखा। ... मैं सिर्फ़ इतनी तरमीम करना चाहता हूँ कि ... तुम्हारे अंतिम वक़्तव्य के बारे में, तो वह मार्क्सवाद को लेकर नहीं, बल्कि आधुनिकता की तुम्हारी क्या कल्पना है, इसके बारे में है। ... मुझे एक ख़तरा लग रहा है कि रामविलास जिन चीज़ों को कर रहे हैं जो कि तुम्हें ग़लत दिखाई पड़ रही हैं, उस प्रक्रिया को ही तुम अगर सिरे से ख़ारिज कर देते हो कि वे एक व्यापारिक पूँजीवाद की बात करते हैं, और कहते हैं और हमारे यहाँ, फिर अगली कड़ी आती ही है, वह एक चीज़ है, लेकिन जब उन्नीसवीं सदी के भारतीय बौद्धिक राष्ट्रवादी बौद्धिक यह कहते हैं, और यह सब वे हैं जो अंग्रेज़ी राज्य को डिवाइन डिस्पेंसेशन मान रहे हैं। जब वे यह कहते हैं, जो मैं कहना चाह रहा था उस दिन, कि हमारी अपनी एक विकास-प्रक्रिया चल रही थी, हमारी अपनी परम्परा में पूरी संभावनाएँ थीं, और ये सारी संभावनाएँ एकाएक औपनिवेशिक हस्तक्षेप के कारण समाप्त हो गईं। यह न हो कि उस सम्भावना को ही तुम सिरे से ख़ारिज कर दो इसलिए कि तुम रामविलास शर्मा को ख़ारिज कर रहे हो। [२९]

इस जवाब-सवाल को यहीं छोड़ कर मैं जाँच करना चाहता हूँ कि आखिर रामविलासजी ने परम्परा के मूल्यांकन का ऐसा कौन सा तरीका अपनाया था जिसकी विजय के कारण आरोप लग रहा है कि हिंदी के मार्क्सवाद पर संस्कारित किस्म का राष्ट्रवादी-हिंदू-पुरुष मन छा गया, और अतीत को सम्प्रदायवादियों की झोली में गिरने से रोकने की प्रक्रिया में मार्क्सवादियों ने खुद को ही साम्प्रदायिकों के हवाले कर दिया। मैंने अपनी पड़ताल के औज़ार कुछ समाज-वैज्ञानिकों द्वारा की गई उस स्थापना से लिए हैं जिसे **परम्परा की**

[28] संजीव के वक्तव्य पर अभय कुमार दुबे की टिप्पणी, *हिंदी की आधुनिकता-एक पुनर्विचार,* दूसरा खंड, आईआईएएस-वाणी, शीघ्र प्रकाश्य, २०१२

[29] संजीव की प्रस्तुति पर इतिहासकार सुधीर चंद्र की टिप्पणी, *हिंदी की आधुनिकता-एक पुनर्विचार,* दूसरा खंड, आईआईएएस-वाणी, शीघ्र प्रकाश्य, २०१२

आधुनिकता (मॉडर्निटी ऑव ट्रेडिशन) के फ़िकरे से जाना जाता है। १९६७ में लॉयड और सुज़ैन रुडोल्फ की जोड़ी ने भारत के राजनीतिक विकास की व्याख्या करते हुए दिखाया कि भारतीय समाज का आधुनिकीकरण अंजाम देने के लिए किस तरह से पारम्परिक संरचनाओं का इस्तेमाल किया जा रहा है। रुडोल्फों द्वारा किए गए इस बहुचर्चित अध्ययन में सामाजिक स्तरीकरण, करिश्माई नेतृत्व और कानून पर अधिक चर्चा की गई थी। [३०] रुडोल्फ इससे पहले जाति-प्रथा और आधुनिक राजनीति की अन्योन्यक्रिया का 'जाति के लोकतांत्रिक पुनर्जन्म' के रूप में अध्ययन कर चुके थे। तकरीबन रुडोल्फ के समय में ही रजनी कोठारी भी जाति और आधुनिक चुनावी राजनीति के समागम का अध्ययन करते हुए दिखा रहे थे कि राजनीति में जातिवाद की परिघटना किस तरह राजनीति में जातिवाद का प्रवेश न हो कर जातियों का राजनीतिकरण है। [३१] कोठारी कहना यह चाहते थे कि भारत जैसे परम्पराबद्ध समाज के आधुनिकीकरण का रास्ता राजनीतिकरण की मंज़िल से होकर गुज़रता है। इसके बाद १९७९ में भीखू पारेख की दो बहुचर्चित रचनाएँ सामने आईं जो गाँधी के विमर्श को उपनिवेशवाद, परम्परा और सुधार के परिप्रेक्ष्य में रख कर देखती थीं। प्रोफेसर पारेख ने इन रचनाओं में प्रदर्शित किया था कि आधुनिक राष्ट्र के निर्माण के लिए गाँधी किस तरह परम्परा के कुछ पहलुओं की पुनर्रचना करते हैं। [३२] इन समाज-वैज्ञानिकों के बीच कई मतभेद थे, जिनका ज़िक्र करना यहाँ विषयानुकूल नहीं होगा। समाज-विज्ञान की दुनिया ने उनकी प्रस्थापनाओं पर खूब बहसें भी कीं। उल्लेखनीय है कि ये विद्वान किसी भी तरीके से मार्क्सवादी शिविर के नहीं हैं, हालाँकि कोठारी पर मानवेंद्र नाथ राय का गहरा प्रभाव रहा है, और भीखू पारेख ने मार्क्स के विचारधारा-सिद्धांत पर एक विख्यात पुस्तक लिखी है। लेकिन मेरी समझ में कुल मिला कर तीनों की टेक वही है कि अगर भारतीय समाज को आधुनिकीकरण के रास्ते पर चलना है तो परम्परा के कुछ पहलुओं का इस प्रक्रिया में विनियोग करना होगा। दरअसल, मैं तो यहाँ तक कहना चाहता हूँ कि परम्परा और आधुनिकता के रिश्ते को सारी दुनिया में इसी तर्ज़ पर व्यावहारिक रूप से संसाधित किया गया है, भले ही शब्दाडम्बर के रूप में कितना भी विचारधारात्मक रैडिकलिज़म क्यों न उगला गया हो। कोठारी ने आधुनिकीकरण की इस थियरी के भारतीय संदर्भ को इस प्रकार वाणी दी है :

> आधुनिकता के संपर्क में आने पर भारतवासियों ने सबसे बड़ा असर यह ग्रहण किया कि वे अपनी पारम्परिक अस्मिता के प्रति नए सिरे से सचेत होते चले गए. आधुनिकता के प्रभाव में उस अस्मिता की पुनर्व्याख्या करके उसमें नवजीवन का संचार किया गया और नई संस्थाओं और विचारों के संदर्भ में उसका सुदृढ़ीकरण हुआ। यही था भारत के राजनीतिक आधुनिकीकरण का रास्ता। आधुनिकतावादी प्रेरणाओं ने लोगों को भारत की भारतीयता का दावा करने की, उस भारतीयता का पुन:सूत्रीकरण करने, और कुल मिला कर उसे एक आधुनिक चरित्र देने की गुंजाइश प्रदान की। भारत के आधुनिकीकरण पर परम्परा को खारिज करने का मॉडल लागू नहीं होता। न ही आधुनिकता और आधुनिक संस्थाओं की शक्ति को नकार कर सिर्फ परम्परा की वांछनीयता पर ज़ोर देने वाला मॉडल भारत के मामले में कारगर है। इसी तरह आधुनिकता और परम्परा के कुछ-कुछ हिस्सों की ख़ास तरतीब पर ज़ोर देने वाला मध्यमार्गी मॉडल भी यह नहीं है।

---

[30] रुडोल्फ, लॉयड आई. और रुडोल्फ, सुज़ैन हूबर, *दि मॉडर्निटी ऑव ट्रेडिशन : पॉलिटिकल डिवेलपमेंट इन इंडिया,* दि यूनिवर्सिटी ऑव शिकागो प्रेस, शिकागो, १९६७

[31] कोठारी, रजनी, *भारत में राजनीति : कल और आज,* प्रस्तुति : अभय कुमार दुबे, सीएसडीएस-वाणी, दिल्ली, २००५; कोठारी का कथन इसी पुस्तक के पृष्ठ ११०-१११ पर।

[32] पारेख, भीखू, *कोलोनियलिज़म, ट्रेडिशन एंड रिफॉर्म : एन एलालैसिस ऑव गाँधीज़ पॉलिटिकल डिस्कोर्स,* सेज, दिल्ली, १९८९; *गाँधीज़ पॉलिटिकल फ़िलॉसफ़ी : ए क्रिटिकल एग्ज़ामिनेशन,* मैकमिलन, लंदन, १९८९

इस व्याख्या के बाद कोठारी यह बताना नहीं भूलते कि परम्परा अपने आप अपना पुनर्जागरण नहीं कर सकती थी। समसामयिक अर्थ ग्रहण करने के लिए उसे आधुनिक संस्थाओं और मूल्यों की आवश्यकता थी। परम्परा और आधुनिकता पर अलग-अलग ज़ोर देने और एक-दूसरे की कीमत पर उनका महत्त्व समझने के बजाय हमें दोनों के संबंध को समझना होगा, उस प्रक्रिया को समझना होगा जिसने इस प्रक्रिया को जन्म दिया है और उस मिश्रण को समझना होगा जो उस समय पैदा होता है जब एक पारम्परिक समाज नए ज़माने की ज़रूरतों को पूरा करने के ज़रिए नैरंतर्य का संधान करता है, और इस सिलसिले में में अपनी समृद्ध विविधता को नष्ट किए बिना नई एकता और नई पहचान ग्रहण कर लेता है।

आइए देखें, रामविलास शर्मा ने परम्परा के साथ जिस तरह का सुलूक किया है, क्या उसे भी रुडोल्फों, पारेख और कोठारी द्वारा प्रतिपादित इस श्रेणी में रखा जा सकता है? जैसा कि हम जानते हैं कि परम्परा उनके लिए ऋग्वेद से लेकर वर्तमान युग तक फैली हुई है। इस बेहद लंबी अवधि के दौरान वे भारतीय परम्परा के भीतर कौन सा नैरंतर्य देखना चाहते हैं? उनके परम्परा संबंधी विचारों को समझने और उनके प्रस्तुतिकरण के लिए मैंने उनकी बातों का एक कोलाज बनाया है। इसे बनाते समय मैंने ध्यान रखा है कि हर विषय पर सुदीर्घ पुस्तकों की रचना करने वाले रामविलासजी का परम्परा संबंधी चिंतन अत्यंत संक्षेप में क्रमिक रूप से पाठकों के सामने आ सके :

परम्परा बनाम रूढ़ि : अद्वैत के भीतर जैसे द्वैत होता है, वैसे ही परम्परा के भीतर विविधता होती है। अगर भारत को आप एक इकाई मानते हैं, एक घटक मानते हैं, तो उसकी एक परम्परा होगी ही। ... यह सब आपके सोचने पर निर्भर करता है कि आप परम्परा के जो विविध घटक हैं, उन्हें स्वतंत्र मानते हैं या उसी परम्परा के अंतर्गत मान लेते हैं। ... कोई भी कला और सांस्कृतिक कर्म ऐसा नहीं जहाँ आप पहले से विद्यमान वस्तुओं और उपकरणों के आधार पर नई इमारत न खड़ी करते हों। चाहे धर्म हो, चाहे राजनीति। चाहे अर्थशास्त्र हो और चाहे विज्ञान। हर क्षेत्र में जो पहले से सुलभ है उसी के अंश लेकर उसके ऊपर अपना नया भवन खड़ा करते हैं। यह कहना कि रचनाकार को अपनी पुरानी परम्परा से कुछ लेना-देना नहीं, यह असंभव स्थिति है। ... यह भी शंका की गई है कि परम्परा न केवल हमारी मौलिकता को नष्ट करती है, बल्कि हमें अतीतोन्मुख बनाती है और परिणामत: हमें वर्तमान की चुनौतियों का सामना करने से रोकती है। दरअसल यह बात रूढ़ियों के लिए कही जा सकती है। ... जहाँ परम्परा को जस का तस ग्रहण करने के पक्ष में हों, उसका अनुकरण करें, वहाँ रूढ़ि हो जाती है। जहाँ परम्परा जीवित है, वहाँ आप उसके कुछ अंश ग्रहण करते हैं। उसको आगे बढ़ाते हैं। ... किसी भी पुराने साहित्यकार अथवा युग के प्रगतिशील तत्त्वों का विवेचन करने पर कुछ विद्वानों की प्रतिक्रिया होती है कि उन्हें— यानी साहित्यकारों और पुराने युगों को— मार्क्सवादी बनाया जा रहा है। इस प्रतिक्रिया के दो कारण हैं। पहला मार्क्सवाद की जानकारी न होना। दूसरा— पुराने युगों और साहित्यकारों की जानकारी न होना।

आध्यात्मिक बनाम भौतिकवादी : भारत के बारे में ज़्यादातर लोग सोचते हैं कि यह आध्यात्मिक चिंतन का देश है। पर यहाँ पर भाषा-विज्ञान का विकास, गणित का विकास, स्थापत्य कौशल का विकास, यह सब यथार्थवादी (भौतिकवादी) दृष्टि के बिना असंभव था। भारतीय दर्शन की सबसे बड़ी उपलब्धि है एक यथार्थवादी चिंतन। कौटिल्य का अर्थशास्त्र, चरक का औषधि विज्ञान, पाणिनि का व्याकरण— भारत के यथार्थवादी चिंतन की ये परम उपलब्धियाँ अन्य किसी देश को नहीं मिलीं। यथार्थवाद को नकारना भारतीय संस्कृति के सबसे मूल्यवान तत्त्वों को नकारना है। ... मैं ... तीन आचार्यों पर लिखना चाहता हूँ। ये तीन आचार्य हैं पाणिनि, चरक और कौटिल्य। पिछले डेढ़ सौ साल में इस बात का खूब प्रचार किया गया कि भारत आध्यात्मवादी देश है और यथार्थ जीवन उसके लिए महत्त्वहीन था। किंतु यथार्थ जीवन पर ध्यान दिए बिना पाणिनि, चरक और कौटिल्य की व्याख्या नहीं की जा सकती।

आर्यों के आक्रमण की कहानी : ... आर्य नाम का कोई समाज नहीं था। इस नाम की कोई नस्ल नहीं थी। नस्ल के आधार पर कहीं भी किसी समाज का गठन नहीं हुआ। नस्ल की कल्पना उन्नीसवीं सदी में यूरोप के लोगों ने की। संस्कृत व्याकरण की सहायता से जब देखा कि लैटिन, ग्रीक, जर्मन आदि भाषाओं में बहुत समानात है, तो उन्होंने कल्पना कर ली कि ये सब लोग किसी आदि भाषा की शाखाएँ हैं, इस आदि भाषा को बोलने वाले एक नस्ल के लोग थे और भारत में रहते थे। ... उन्नीसवीं सदी के मध्य तक भारत के बाहर से आने वाले आर्यों की कल्पना लोकप्रिय न हुई थी। ... उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में ब्रिटिश साम्राज्य के सुदृढ़ होने और यूरोप की अन्य जातियों के प्रसार के साथ विद्वानों भारत को अपनी भाषाओं का स्रोत कहना उनके लिए अपमान की बात है। जिनको उन्होंने दास बनाया है उनके बाप-दादों को अपनी भाषाओं का जनक कहना सम्मान-विरुद्ध है। इसी वजह से उन्होंने भारत पर आर्यों के आक्रमण की कहानी गढ़ी। यह काम मुख्यत: जर्मनी में हुआ।

ऋग्वेद बनाम पुरोहित वर्ग : ऋग्वेद का अधिक भाग कर्मकांड के लिए नहीं रचा गया। वास्तव में वह कर्मकांड का विरोधी है। ... वह शिल्पी वर्ग की रचना है। ... युधिष्ठिर मीमांसक ने इस बात को अच्छी तरह पहचाना है कि कर्मकांडी पंडितों ने वैदिक ऋचाओं का कैसा दुरुपयोग किया है। ... भारत में पुरोहितों ने ऋग्वेद और उपनिषदों के दार्शनिक काव्य को धर्मशास्त्र बना डालने में कुछ उठा नहीं रखा। कुछ अपवादों को छोड़ अधिकांश पाश्चात्य विद्वान उन्हीं का अनुसरण करते हैं। दुर्भाग्य से भारत के अनेक मार्क्सवादी विवेचक ऋग्वेद को तो अपनी विचार परिधि के बाहर ही रखते हैं। उपनिषदों में भी भाववाद के अतिरिक्त कुछ नहीं देखते। ... वैदिक साहित्य की मूल धारा जीवन की स्वीकृति की धारा है। वह संसार के मिथ्या होने का प्रसार नहीं करती। वह मनुष्य के सामाजिक जीवन बिताने पर बहुत ज़ोर देती है। ... ऋग्वेद में ऋषि अनेक प्रकार का शारीरिक श्रम करते हैं। किसी भी तरह का श्रम हो, उन्हें उससे घृणा नहीं है। इस शारीरिक श्रम के साथ वे काव्य भी रचते हैं, यज्ञ करते हैं, देवताओं के लिए स्तुतियाँ बनाते हैं। ... ऋग्वेद की यही विशेषता है कि यहाँ शारीरिक श्रम और मानसिक श्रम का भेद मिट गया है। यह हमारा अतीत है और जिस भविष्य में हमें जाना है, वह भी यही है। ... ऋग्वेद के कवियों का दृष्टिकोण इहलोकवादी है, वह जीवन की स्वीकृति का दृष्टिकोण है। इसलिए वह परवर्त्ती संसारविमुख धारणाओं से अधिक प्रगतिशील है। ... ऋग्वैदिक काल भारत का प्रथम नवजागरण है, उपनिषद काल उसका दूसरा नवजागरण है। दोनों के बीच आता है ब्राह्मणकाल। इस मध्य काल में भूस्वामी वर्ग सुदृढ़ हुआ, उसे सुदृढ़ करने में पुरोहित वर्ग ने अपने कर्मकांड का विस्तार किया।

भारतीय दर्शन की रूपरेखा : ... षड्दर्शन का अपना महत्त्व है, लेकिन इनके बाहर जो दर्शन हैं, उनके साथ मिलाकर षड्दर्शन का अध्ययन करना चाहिए। जैसे, षड्दर्शन में लोकायत नहीं है, सांख्य है। सांख्य का अध्ययन लोकायत के साथ करना चाहिए। षड्दर्शन में न्याय है, अनेकांतवाद नहीं है। न्याय का अध्ययन अनेकांतवाद के साथ मिला कर करना चाहिए। षड्दर्शन में उत्तर मीमांसा अर्थात वेदांत है, शून्यवाद नहीं है। वेदांत का अध्ययन शून्यवाद के साथ मिला कर करना चाहिए। इससे भारतीय दर्शन का भरा-पूरा चित्र दिखाई देने लगेगा। ... मार्क्स और एंगेल्स के चिंतन के अलावा अगर हम दार्शनिक यथार्थवाद पर ध्यान केंद्रित करें तो ऋग्वेद-उपनिषद-प्राचीन यूनानी दर्शन, फिर १७वीं सदी में बेकन और लॉक के विचार, १८वीं सदी में फ्रांस में भौतिकवाद का विकास, अगली कड़ी के रूप में मार्क्स और एंगेल्स का भौतिकवाद ... दार्शनिक चिंतन के विकास की यह बहुत आकर्षक रूपरेखा बनती है।

भक्ति अभिजात्य का निषेध : भक्ति का आधर वे किसान और कारीगर हैं जो अपने जीवन की परिस्थितियों से असंतुष्ट हैं, जो पुराने सामंती बंधनों से असंतुष्ट हैं, इनको तोड़ना चाहते हैं लेकिन चूँकि वर्ग संगठित नहीं है, वर्ग पूरी तरह से निर्मित नहीं है, इसलिए इनका सामाजिक संघर्ष भारतवर्ष में भक्ति का रूप लेता है और मनुष्य मात्र की समानता की घोषणा करता है। मनुष्य मात्र की समानता की घोषणा—यह भक्ति आंदोलन का मूल सूत्र है। तुम भले कुल में पैदा हुए, इसलिए राम के भक्त हो गए—भक्ति आंदोलन यह मानने के लिए तैयार नहीं। आभिजात्य का निषेध—यह भक्ति आन्दोलन की विशेषता है। अत: दक्षिण भारत, विशेषत: तमिलनाडु, से इसकी शुरुआत होती है। व्यापारिक पूँजीवाद का विकास सर्वाधिक वहाँ हुआ था। मात्र मदुरै को केंद्र बनाकर इसका इतिहास पढ़ें तो सारे भारत का इतिहास नये ढंग से दिखाई देगा। लोग भारत के इतिहास पढ़ें तो सारे भारत का इतिहास नए ढंग से दिखाई देगा। लोग भारत के इतिहास को भी खंडश: पढ़ते हैं। एशिया और यूरोप के साथ मिलाकर तो पढ़ते ही नहीं किंतु तमिलनाडु

के इतिहास को जानना आवश्यक है। उत्तर भारत में कहाँ हमने क्या पाया और कहाँ क्या नहीं पाया, यह समझने के लिए तमिलनाडु का इतिहास जानना ज़रूरी है। ... भक्ति आंदोलन बहुत बड़ा सूत्र है। वह कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक और गुजरात से लेकर बंगाल तक फैला हुआ है। भक्ति आंदोलन को ही आदमी सूत्र मान कर चले तो भारतीय साहित्य की बहुत बड़ी सामान्य विशेषता को पकड़ सकता है।

तुलसी, सूर और कबीर : वेद मनुष्यकृत नहीं हैं, ईश्वरकृत हैं, उनको थोड़े से आदमी ही समझ सकते हैं, इस प्रचार से पुरोहित वर्ग को लाभ होता था। तुलसी दास का मन इस प्रचार से मुक्त है। ... तुलसी और कबीर की जो सामान्य भूमि है, वह ऋग्वेद की उतनी नहीं जितनी उपनिषदों की है। उपनिषदों में ब्रह्म की अद्वैत सत्ता का प्रतिपादन है। इस सत्ता में कबीर और तुलसी दोनों का विश्वास है। ... तुलसीदास दरिद्रता के प्रति जितने सचेत हैं उतना १६वीं-१७वीं सदी का कोई कवि नहीं है। और वे जो गरीबी देखते हैं वह केवल गाँवों की गरीबी नहीं है, शहरों की भी गरीबी है। ... दरिद्रता के प्रति यह सजगता निर्गुण-सगुण के भेद को मिटा देती है। देखना यह चाहिए कि यथार्थ इन कवियों में कहाँ तक प्रतिबिम्बित हुआ है, वर्ण-विभाजन इनमें कहाँ तक प्रतिबिम्बित हुआ है। कबीर में ये चीज़ें पकड़ने में ज़्यादा आसानी है। ... सूर, तुलसी और कबीर तीनों भिन्न-भिन्न सामाजिक परिवेशों का बहुत अच्छी तरह से, बहुत गहराई से चित्रण करते हैं। कबीर जिस दुनिया में रहते हैं वह बाज़ार वाली दुनिया है, वहाँ माल लेकर बेचने जाना पड़ता है। ... वे शहर के रहने वाले हैं, बहुत लोगों से मिलते हैं ... लेकिन खेती की दुनिया से काफी दूर हैं। ... कारीगर तबके के प्रतिनिधि हैं कबीरदास। ... पशुचारण सभ्यता के जो अवशेष सोलहवीं सदी में थे, वे सूरदास में परिलक्षित होते हैं। यह उनका सामाजिक परिवेश है। ... गाँव के पास जो आदमी सबसे ज़्यादा रहता है, वह तुलसीदास है। ... किसान को तुलसीदास सबसे अच्छी तरह जानते हैं। ... ये तीन तरह के सगुण परिवेश हैं जो इन भक्तों के यहाँ परिलक्षित हैं। सगुण-निर्गुण विवाद पंडितों का विवाद है। जो यथार्थ ढूँढ़ने चलेगा, वह इन तीन तरह के परिवेशों से टकराएगा। ये तीनों परिवेश एक-दूसरे के विरोधी नहीं, पूरक हैं। ... जहाँ तक निम्न जातियों का सवाल है, यह बात सही है कि निर्गुण पंथ में बहुत-सी निम्न जातियाँ रही हैं। इससे पहले सिद्धों और नाथपंथियों में भी बहुत सी निम्न जातियाँ रही हैं। लेकिन यह बात भी सही है कि वैष्णवों में भी बहुत से निम्न जातियों के लोग रहे हैं। सिक्खों को अगर निर्गुणपंथी माना जाए तो इनके यहाँ बहुत से व्यवसायी रहे हैं।

लोकजागरण और नवजागरण की तीन मंज़िलें : जो कार्य लोकजागरण में संस्कृत साहित्य नहीं कर सका, वह अखिल भारतीय स्तर पर भक्ति साहित्य ने किया। ... १८ ५७ का संग्राम हमारा जातीय संग्राम है और भारत का राष्ट्रीय संग्राम भी है। उसका असर सारे देश पर हुआ, हिंदीभाषी प्रदेश पर सबसे ज़्याद हुआ। ... सन् ५७ का स्वाधीनता संग्राम हिंदी-प्रदेश के नवजागरण की पहली मंज़िल है। दूसरी मंज़िल भारतेंदु हरिश्चंद्र का युग है। ... भारतेंदु युग का साहित्य व्यापक स्तर पर गदर से प्रभावित है, इसका पहला प्रमाण यह है कि इस साहित्य में किसानों को लक्ष्य करके, उन्हें संगठित और आंदोलित करने की दृष्टि से जितना गद्य-पद्य लिखा गया है, उतना दूसरी भारतीय भाषाओं में नहीं लिखा गया। दूसरा प्रमाण यह है कि इस साहित्य का माध्यम संस्कृतगर्भित भाषा नहीं है, जैसे कि वह बंगला साहित्य में है, वरन वह शहरी बोलचाल की भाषा है और जनपदीय उपभाषाओं से अपना नाता जोड़े हुए है। ... हिंदी नवजागरण की तीसरी मंज़िल महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनके सहयोगियों का कार्यकाल है। ... अभी तक हिंदी का ऐसा कोई लेखक नहीं हुआ जो साहित्यकार हो और उसे अर्थशास्त्र का इतना गहरा ज्ञान भी हो। ... राजनीति और अर्थशास्त्र के साथ उन्होंने आधुनिक विज्ञान से परिचय प्राप्त किया और इतिहास तथा समाजशास्त्र का अध्ययन गहराई से किया। इसके साथ भारत के प्राचीन दर्शन और विज्ञान की ओर उन्होंने ध्यान दिया और यह जानने की कोशिश की कि हम कहाँ आगे बढ़े हुए हैं और कहाँ पिछड़े हैं। इस तरह की तैयारी उनसे पहले किसी सम्पादक या साहित्यकार ने न की थी। परिणाम यह हुआ कि हिंदी प्रदेश में नवीन सामाजिक चेतना के प्रसार के लिए वे सबसे उपयुक्त व्यक्ति सिद्ध हुए। ... जिस उत्सर्ग की भावना से द्विवेदीजी प्रेरित थे, उसे समझने में स्वाधीन भारत के साहित्यकारों को कुछ कठिनाई हो सकती है। ... रामचंद्र शुक्ल ने *विश्व प्रपंच* की भूमिका लिख कर दिखाया कि प्राचीन दर्शन और आधुनिक विज्ञान का अध्ययन और विवेचन नवजागरण के लिए क्यों ज़रूरी है और उसे कैसे सम्पन्न किया जा सकता है। ... शुक्लजी मनुष्य के इंद्रियबोध को, विचारबोध को और उसके भावबोध को— तीनों को समष्टि के रूप में देखते हैं। तीनों को मिला कर देखते हैं। ... इसीलिए मैं उन्हें भौतिकवादी आलोचक के रूप में देखता हूँ। ... शुक्लजी न होते तो जायसी को कोई

> जानता भी नहीं। ... मैथिलीशरण गुप्तजी ने सबसे बड़ा काम यह किया कि काव्य में ब्रजभाषा के स्थान पर गद्य में हिंदी को प्रतिष्ठित किया। उसे ऐसा रूप दिया कि वह हिंदी सारे हिंदी-प्रदेश में लोकप्रिय हुई। दूसरा बड़ा काम उन्होंने यह किया कि अपने गद्य लेखों द्वारा, उससे अधिक अपनी पद्य रचनाओं द्वारा नायिकाभेद, समस्यापूर्ति और अलंकारशास्त्र वाली रीतिवादी परम्पराओं को ध्वस्त कर दिया। [३३]

रामविलासजी की चुनिंदा उक्तियों, वाक्यों और पैराग्राफों का यह कोलाज और भी लंबा हो सकता है। मैंने वही पंक्तियाँ चुनी हैं जिनमें वे हर जगह परम्परा का मूल्यांकन करते नज़र आ रहे हैं, हालाँकि मुझसे कई चीज़ें ज़रूर छूट गई होंगी। फिर भी मैं मानता हूँ कि इसमें उनके चिंतन की द्वंद्वात्मकता भी झलक रही है और वह महावृत्तांत भी दिख रहा है जिसकी तस्वीर वे सारी ज़िंदगी करीने से बनाते रहे। साथ में उनकी पसंदों और नापसंदगियों की एक बानगी भी इसमें मिलती है। अगर रामविलासजी का मार्क्सवाद हिंदी की दुनिया में विजयी हुआ है, तो उसके कारण भी इस कोलाज में दिखते हैं। क्या इस द्वंद्वात्मकता और महावृत्तांत में वह सांस्कृतिक फैक्ट्री कहीं दिखती है जिसमें संजीव द्वारा चिह्नित संस्कारित 'राष्ट्रवादी-हिंदू-पुरुष मन' की मैन्यूफैक्चरिंग हुई हो? जो निर्विवाद रूप से दिखता है वह वही है जिसे रुडोल्फ, कोठारी और पारेख ने संसाधित किया है : परम्परा का रूढ़ि से भेद करना, परम्परा की आधुनिकता, परम्परा की पुन:रचना, इस प्रक्रिया में आधुनिकीकरण के रास्ते की समझ बनाना और भारतीय समाज के इतिहास में उसके संरचनात्मक आधार की शिनाख्त करना। चूँकि यह परम्परा की आधुनिकता का मार्क्सवादी संस्करण है इसलिए यहाँ हर जगह आम जनता, किसान, कारीगर, शिल्पी वगैरह मौजूद हैं। ऋग्वेद से लेकर भक्तिकाल तक हर जगह पुरोहितों को अवांछित तत्त्वों की तरह पेश किया गया है। हर जगह यह दिखाने की कोशिश की गई है कि भारत अध्यात्मवादी या भाववादी नहीं, बल्कि भौतिकवादी या यथार्थवादी देश है। ऋग्वेद से लेकर रामचंद्र शुक्ल तक, हर जगह भौतिकवाद देख लिया गया है। वाल्मीकि से लेकर तुलसी दास तक लिखी गई महान कविता के केंद्र में देवता नहीं बल्कि मनुष्य है। कुल मिला कर इस लंबे उद्धरण से यह निश्चित रूप से पता चलता है कि रामविलास शर्मा के 'विजेता' मार्क्सवाद ने परम्परा और आधुनिकता को जिस तरह किया उससे एक परम न्यूकलियर, परम बुद्धिवादी, परम रैडिकल, परम परम्परा-भंजक, राष्ट्रवाद का हंता, अंतर्राष्ट्रवाद का झंडाबरदार, हिंदू-प्रदूषण से पूरी तरह मुक्त, जेंडर-डेमॉक्रैसी को बुलंद करने वाले और पुराने समाज को पूरी तरह से नष्ट करके नया समाज बनाने वाले उस क्रांतिधर्मी मन की रचना नहीं हो सकती जो संजीव का आदर्श है।

III
हिंदी-वर्चस्व की रक्षा / का लोकतंत्रीकरण

रामविलास शर्मा ने अपने बौद्धिक जीवन की शुरुआत तीस के दशक में विवेकानंद की तीन रचनाओं (*भक्ति और वेदांत, कर्म योग* और *राज योग*) के अनुवाद से की। १९४१ तक उनका एक उपन्यास *चार दिन* और *प्रेमचंद* शीर्षक से एक पुस्तक छप कर आ चुकी थी। अर्थात जो उनकी बौद्धिकता के जागृत होने का समय था,

[33] रामविलास शर्मा के साहित्य से सुपरिचित पाठक (और ऐसे पाठकों की कमी नहीं है) यह कोलाज पढ़ते ही समझ जाएँगे कि इसके वाक्यांश कहाँ-कहाँ से उठाए गए हैं। मैंने यह कोलाज बनाने के लिए अधिकरत *परम्परा का मूल्यांकन* (राजकमल : १९८१), *भारतेंदु हरिश्चंद्र और और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ* (राजकमल : १९८९), *महावीर प्रसाद द्विवेदी और और हिंदी नवजागरण* (राजकमल : १९७७), *भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश* (किताबघर : दो खंड : २००९) और *मेरे साक्षात्कार* (किताबघर : २०११) का इस्तेमाल किया है।

वही हिंदी के राजनीतिक-प्रभुत्व को वर्चस्व में बदलने के प्रयोगों का समय था। आम समझ यह थी कि उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन, गाँधी और प्रेमचंद के प्रयासों के कारण हिंदी का भविष्य तय सा हो गया है कि उसे तो आगे चल कर राष्ट्रभाषा बनना ही है। इस प्रभुत्व को वर्चस्व की आभा देने का काम न जाने कितने ग़ैर-हिंदीभाषी कर रहे थे। लेकिन हिंदी-क्षेत्र के बाहर जैसे ही इस प्रभुत्व की वर्चस्विता आजमाई जाती थी, राष्ट्रवादी शब्दाडम्बर की बहुतायत के बावजूद हिंदी की दावेदारियाँ प्रश्नांकित होने लगती थीं। हिंदी के प्रभुत्व और वर्चस्व के इस अंतर्विरोध को मैं एक सुदीर्घ अध्ययन में विस्तार से दिखा चुका हूँ :

> क्या वास्तव में आज़ादी से पहले भाषा के सवाल पर इतनी ही सहज और सुखद स्थिति थी? गाँधी के हिंदुस्तानी और 'हिंदी-हिंदुस्तानी' समर्थक वक्तव्यों को इस राष्ट्रीय सहमति के प्रमाण के तौर पर गिनाया जाता है। के.एम. मुंशी, वल्लभभाई पटेल, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, राजेंद्र लाल मित्र और सुनीति कुमार चाटुर्ज्या जैसे ग़ैर-हिंदीभाषियों के हिंदी-समर्थक बयान भी इस धारणा के पक्ष में पेश किए जा सकते हैं। लेकिन असलियत इतनी सपाट नहीं है। आज़ादी से पहले भी यह राष्ट्रीय सहमति केवल तभी तक एकताकारी भूमिका निभा पाती थी, जब तक राष्ट्र-भाषा का प्रश्न आश्वासन या राजनीतिक शब्दाडम्बर के रूप में रहता था। १९३७ में जिस समय हिंदी को राष्ट्र-भाषा बनाने की सहमति सर्वाधिक प्रबल होनी चाहिए थी, उसी दौरान मद्रास की सरकार के मुखिया के तौर पर राजगोपालाचारी द्वारा हाई स्कूल स्तर पर हिंदुस्तानी को अनिवार्य विषय बनाते ही इसकी अंतर्निहित कमज़ोरियाँ साफ हो गई थीं। राजगोपालाचारी का ख्याल था कि राष्ट्रवादी भावनाओं के प्रभाव में और १९१८ से दक्षिण भारत में सक्रिय हिंदी प्रचारिणी सभाओं की सफलताओं के दम पर तमिलभाषी हिंदुस्तानी को स्वीकार कर लेंगे। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। सरकारी फैसला होते ही राजगोपालाचारी और उनके शिक्षा मंत्री सुब्बरायन के खिलाफ आंदोलन शुरू हो गया। इस तरह दक्षिण भारत में हिंदुस्तानी को राष्ट्रवादी आग्रहों के तहत राजकीय आदेश के ज़रिए स्थापित करने का पहला मंसूबा आज़ादी के एक दशक पहले पूरी तरह से नाकाम हो गया। हिंदुस्तानी के खिलाफ तमिलों में हुई यह प्रतिक्रिया कई हफ्तों तक जारी रही। इसका चरित्र उग्र और हिंसक किस्म का था। अट्ठाइस साल बाद तमिलनाडु और दक्षिण भारत के अन्य इलाक़ों में आए हिंदी विरोधी उभार का यह ट्रेलर था।
>
> तमिलभाषी हिंदुस्तानी को एक ज़मीनी हक़ीक़त के तौर पर भला क्यों स्वीकार करते, जब कांग्रेस के पास भी इस भाषा के लिए केवल जुबानी जमा-खर्च ही था। ऊपरी तौर पर कांग्रेस ने १९२५ में ही अपने संविधान के अनुच्छेद ३३ को संशोधित करके हिंदुस्तानी को अपनी अधिकारिक भाषा घोषित कर दिया था। क़ायदे से इसके बाद कांग्रेस अधिवेशनों की सारी कार्यवाही 'जहाँ तक संभव हो सके' हिंदुस्तानी में ही होनी चाहिए थी। लेकिन, संविधान-निर्माण की प्रक्रिया पर अपने अनुसंधान के लिए मशहूर ग्रेनविले ऑस्टिन ने स्पष्ट रूप से दिखाया है कि इस फैसले के दो चेहरे थे। हिंदुस्तानी राष्ट्रीय आंदोलन की भाषा इस अर्थ में ज़रूर हो गई कि उसके ज़रिए उत्तर भारत और दक्षिण को छोड़ कर देश के अन्य हिस्सों में जन-गोलबंदी की जाने लगी थी। लेकिन कांग्रेस के शीर्ष नेतृत्व की आपसी चर्चाओं की भाषा अंग्रेज़ी ही बनी रही। १९२८ की मशहूर नेहरू रपट ने हिंदुस्तानी को पूरे भारत की मुश्तरक़ा ज़ुबान के रूप में क़ायम करने का चर्चित आग्रह करने वाला अपना मसविदा अंग्रेज़ी में ही लिखा था। नेहरू कमेटी की पूरी कार्यवाही अंग्रेज़ी में ही हुई थी, और संभवत: उसका हिंदी संस्करण कांग्रेस के हल्कों में बहुत दिनों तक भी उपलब्ध नहीं था। गाँधीजी ने हिंदुस्तानी के सवाल को सैद्धांतिक रूप से तो सभी के गले उतार दिया था, लेकिन वे व्यावहारिक रूप से हिंदुस्तानी को कांग्रेस की भाषा कभी नहीं बना पाए। गाँधी के हिंदी प्रेम पर कोई शक नहीं किया जा सकता। गाँधी ने कई नेताओं का सार्वजनिक रूप से अंग्रेज़ी बोलना छुड़वाया, पर यह अभी भी शोध का विषय है कि स्वयं उन्होंने कांग्रेस के शीर्ष नेताओं से अपनी ख़तो-क़िताबत कितने बार हिंदुस्तानी में की और कितने बार अंग्रेज़ी में। गाँधी ने रवींद्रनाथ ठाकुर को तो अपनी उपस्थिति में हिंदी में भाषण देने के लिए मजबूर किया, पर सवाल यह है कि क्या उन्होंने यही व्यवहार कभी नेहरू के साथ किया? कांग्रेसियों का जनता से सम्पर्क या तो हिंदुस्तानी में होता था या अन्य भारतीय भाषाओं में, पर राष्ट्रीय आंदोलन की भीतरी राजनीति पर अंग्रेज़ी निर्विवाद रूप से हावी रही। ऑस्टिन के अनुसार भाषाई आधार पर अपने आंदोलन और संगठन का गठन करने के अलावा कांग्रेस ने भाषा के प्रश्न पर विस्तार से कभी विचार नहीं किया। मद्रास में राजगोपालाचारी की कोशिशों की नाकामी ने भी कांग्रेस को मजबूर किया होगा कि उसे यह प्रश्न उठा कर आंदोलन में फूट को निमंत्रण नहीं देना चाहिए। अर्थात कांग्रेस ने भाषाई प्रश्न का लाभ तो

> उठाया, लेकिन वह उससे हो सकने वाले नुकसानों से बचती रही। उसने न तो इस बारे में विचार किया कि अदालतों की कार्यवाही किस भाषा में होगी, न यह तय किया कि संसद किस भाषा में बहस करेगी और संविधान किस भाषा में बनेगा। परिणाम क्या निकला? संविधान सभा जब नवोदित भारतीय राज्य के लिए नियम-कानूनों की कसौटियाँ बनाने बैठी तो लगा कि संविधान की भाषा के सवाल पर ही सारी राष्ट्रीय एकता नष्ट हो जाएगी। [३४]

आज़ादी के बाद संविधान सभा में भाषा के सवाल पर बड़ी पेचीदा बहस हुई, और अंततः उसे राज-भाषा की हैसियत दे दी गई। हिंदी के ज़्यादातर समर्थकों ने उसकी इसी संवैधानिक हैसियत में उसका राष्ट्र-भाषा हो जाना पढ़ लिया। यह माना गया कि संविधान की मुहर लग जाने के बाद अब हिंदी का प्रभुत्व अंतिम तौर पर वर्चस्व में बदल गया है। लेकिन भाषा से जुड़ी राजनीति इसी जगह खत्म नहीं हुई। दो विपरीत प्रक्रियाएँ भी चलीं। पहली मुख्यतः वामपंथी खेमे के भीतर घटित हुई। वहाँ पूरे विद्रोही तेवर के साथ जनपदीय भाषाओं का प्रश्न उठा कर हिंदी के इस संविधानजनित वर्चस्व को चुनौती दी गई। इसका मैदान प्रगतिशील लेखक संघ की राजनीति थी और इसकी बागडोर हिंदी के ही कुछ लेखकों के हाथ में थी। यह एक अंतःविस्फोट था। दूसरी प्रतिक्रिया ग़ैर-हिंदीभाषी क्षेत्रों से आई जिसका मैदान पहला राज-भाषा आयोग था। हिंदी-क्षेत्र के बाहर होने वाले इस विस्फोट के कर्ताधर्ता आयोग के तमिल और बंगाली सदस्य (पी. सुब्बरायन और सुनीत कुमार चटर्जी) थे। हिंदी के वर्चस्व में ये दोनों पलीते उस समय लगे जब रामविलास शर्मा कम्युनिस्ट पार्टी की सांस्कृतिक सिपहसालारी में डूब-उतरा रहे थे। १९४९ से १९५३ के बीच प्रगतिशील लेखक संघ की बागडोर रही। इस दौर में उन्हें एक से बढ़ कर एक तल्ख़ बहसों में भाग लेना पड़ा। [३५] साठ का दशक खत्म होते-होते दक्षिण भारत में हिंदी के खिलाफ और उत्तर भारत में अंग्रेज़ी के खिलाफ आंदोलनों की लहर आ चुकी थी। यह समय भाषाई आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की राजनीति का भी था। यह समय संभवतः भारतीय राजनीति का सबसे उत्तेजक और संकटग्रस्त समय था जब अमेरिकी बुद्धिजीवी सेलिग हैरिसन ने कह दिया था कि इसी राजनीति की वजह से ही १९६७ का संसदीय चुनाव भारत का आखिरी लोकतांत्रिक चुनाव हो सकता है।

अपने लेख के तीसरे खंड में मैं कहना यह चाहता हूँ कि रामविलास शर्मा ने इस नाज़ुक समय में और उसके बाद कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर और बाहर वह भूमिका निभाई जो आज़ादी से पहले भाषा के सवाल पर गाँधी की भूमिका से मिलती-जुलती थी। गाँधी ने हिंदी का राजनीतिक प्रभुत्व कायम करते हुए उसके वर्चस्व के लिए रास्ता साफ किया था। वे संस्कृतनिष्ठ हिंदी के विरोधी और हिंदुस्तानीनुमा सरल-सहज बोलचाल की हिंदी के पक्षधर थे। रामविलासजी ने हिंदी के संविधानजनित वर्चस्व की रक्षा करते हुए उसके लोकतंत्रीकरण का भगीरथ प्रयास किया। उन दिनों, और जीवन में बहुत बाद तक, वे मार्क्सवादी मुहावरे में गाँधी को पूँजीपति वर्ग का प्रतिनिधि मानते थे, पर भाषा के सवाल पर वे गाँधी के भूरि-भूरि प्रशंसक थे। [३६] उन्होंने जो किया, उसे देख कर बेहिचक कहा जा सकता है कि इस सवाल पर उनके भीतर एक गाँधी छिपा बैठा था।

---

[34] दुबे, अभय कुमार, 'हिंदी की हैसियत : राज-भाषा / राष्ट्र-भाषा-सरकारी / सामाजिक', *हिंदी में हम : आधुनिकता के कारखाने में भाषा और विचार,* सीएसडीएस-वाणी, दिल्ली, शीघ्र प्रकाश्य, २०१२

[35] प्रगतिशील लेखक संघ की तत्कालीन राजनीति दो परस्पर विरोधी आख्यानों के लिए देखें, नलिनी उपाध्याय से रामविलास शर्मा की लंबी बातचीत, 'आलोचना और प्रगतिशील साहित्य', *मेरे साक्षात्कार,* उपरोक्त, पृष्ठ २८-४२; रामविलास शर्मा के कामकाज की कठोर आलोचना करने वाले शिवदान सिंह चौहान का संस्मरण, 'प्रगतिशील आंदोलन और मैं', *वसुधा-51,* उपरोक्त, पृष्ठ २९४-३१०; रामविलासजी की हमदर्द आलोचना के लिए देखें, अली अशरफ, 'लासानी हैसियत वाले रामविलास', *वसुधा-51,* उपरोक्त, पृष्ठ ३११-३२१

[36] देखें, गाँधी की भाषा-नीति पर रामविलासजी का लेख, 'गाँधीजी और भाषा समस्या', *भारत की भाषा समस्या,* राजकमल, दिल्ली, २०११, पृष्ठ ३१५-३४३

भाषा के मामले में रामविलास शर्मा को हिंदी जाति की थीसिस का प्रणेता माना जाता है। लेकिन मैं यह कहूँगा कि उनकी यह थीसिस हिंदी-वर्चस्व (जैसा कुछ भी वह उस समय था) का विलोप किए बिना उसके लोकतंत्रीकरण के प्रयासों का पहला आयाम थी। उसका दूसरा पहलू था भारतीय संघ की राज-भाषा के रूप में हिदी की अनिवार्यता का विरोध। उसका तीसरा पहलू था अखिल भारतीय सम्पर्क भाषा के रूप में हिंदी की संरचनात्मक दावेदारी के सामाजिक-ऐतिहासिक सबूत पेश करना ताकि वह अंतत: अंग्रेज़ी की जगह ले सके। ये तीनों आयाम विकसित करने की प्रक्रिया में रामविलासजी ने भाषा के प्रश्न पर तितरफा हस्तक्षेप किया। पहला, उन्होंने एक नई राज-भाषा गढ़ने के प्रयासों के सरकारी प्रयासों की विस्तृत और गहरी आलोचना की। उर्दू-फ़ारसी परम्परा से कटी हुई एक संस्कृतनिष्ठ अटपटी हिंदी बनाने की सरकारी योजना का साथ देने से इनकार करते हुए उन्होंने उसके परख्चे उड़ा दिए और हिंदी को संस्कृत की बेटी बताने वाले राष्ट्रवादियों के खिलाफ जम कर मोर्चा लिया। दूसरा, कम्युनिस्ट पार्टी और प्रगतिशील लेखक संघ के भीतर हिंदी का प्रयोग करने के लिए कटिबद्ध अभियान चलाया। हिंदी और उसके क्षेत्र की जनपदीय भाषाओं का परस्पर विरोध दिखाने वालों के मुकाबले उन्होंने उन भाषाओं के साथ हिंदी की तारतम्यता स्थापित की। तीसरा, भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में उन्होंने सोशल-लिंग्विस्टिक्स के आधार पर भाषा-गठन की स्वाभाविक प्रक्रिया पर बल देते हुए कहा कि बोली के आधार पर परिनिष्ठित भाषा का विकास होता है, परिनिष्ठित भाषा के आधार पर बोलियाँ उत्पन्न नहीं होतीं। खड़ी बोली के आधार पर हिंदी विकसित हुई, लंदन (या मिडलैंड) की बोली के आधार पर अंग्रेज़ी और मास्को की बोली के आधार पर रूसी विकसित हुई। इससे पहले प्रचलित यह था कि संस्कृत से प्राकृत, प्राकृत से अपभ्रंश और अपभ्रंश से हिंदी बनी। रामविलास शर्मा ने मैं यहाँ दो भागों में रामविलासजी के इन सभी प्रयासों की व्याख्या करूँगा। पहला है वर्चस्व की रक्षा, और दूसरा है वर्चस्व का लोकतंत्रीकरण।

वर्चस्व की रक्षा यानी हिंदी जाति की थीसिस : हिंदी जाति की रामविलासीय स्थापना की एक प्रचलित कथा है, और दूसरी अ-प्रचलित अंतर्कथा। दोनों में सच्चाई है। एक सबकी ज़ुबान पर है और उसके आधार पर हिंदी की दुनिया पक्ष-विपक्ष में बँटी हुई है। दूसरी के बारे में जो थोड़ी-बहुत चर्चा अस्फुट स्वर में होती भी है, उसकी तरफ कोई ध्यान नहीं देता। कथा को लोकप्रिय करने में खुद रामविलाजी के वक्तव्यों और व्याख्याओं के साथ-साथ इस स्थापना के अनगिनत समर्थकों का हाथ है। अंतर्कथा कुछ अधिक गंभीर समीक्षकों की रचनाओं में टुकड़ों-टुकड़ों में मिलती है। इस मसले को सहल माना जाता है, पर है यह जटिल।

कथा इस प्रकार है। १९२२ में जबलपुर से निकलने वाली पत्रिका *श्री शारदा* में धीरेंद्र वर्मा के चार लेख प्रकाशित हुए जिसमें उन्होंने 'हिंदी-राष्ट्र' और 'सूबा-हिंदुस्तान' के साथ राष्ट्र के लक्षणों का विवेचन किया था। १९३० में लीडर प्रेस, प्रयाग से उनके यही विचार कुछ संशोधन के साथ *हिंदी-राष्ट्र या सूबा-हिंदुस्तान* के शीर्षक से पुस्तकाकार छपे। भाषा को राष्ट्र के प्रमुख लक्षण के रूप में चिह्नित करते हुए वर्माजी ने इस पुस्तक में इच्छा व्यक्त की थी कि देश के जितने भूभाग में हिंदी या हिंदुस्तानी मातृभाषा के रूप में बोली जाती है और नागरी लिपि का चलन है, उसे एक राष्ट्र की तरह गठित होना चाहिए। वर्माजी हिंदी और उर्दू को भी एक ही भाषा मानते थे, और उन्हें लगता था कि जब बंगाल में पचास फीसदी बंगाली मुसलमानों की भाषा बांग्ला ही है, तो संयुक्त प्रांत में चौदह फीसदी मुसलमानों की भाषा हिंदी क्यों नहीं हो सकती। [३७] हिंदी-वर्चस्व के पैरोकारों को वर्माजी की यह दलील बड़ी भाई। १९३६ में कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में बालकृष्ण शर्मा नवीन ने इस

[37] अमरनाथ, *हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली,* 'हिंदी जाति', राजकमल, दिल्ली, २००९, पृष्ठ ५५८-५६३,

मसले को उठाने की कोशिश की, पर जवाहरलाल नेहरू की नाराज़गी के कारण वे इस बहस को उसके अंजाम तक नहीं ले जा सके। हम जानते हैं कि धीरेंद्र वर्मा का मार्क्सवाद से कुछ लेना-देना नहीं था। उनका प्रस्ताव तो विशुद्ध राष्ट्रवादी भावनाओं का प्रतिफलन था। लेकिन, रामविलासजी ने यह विचार धीरेंद्र वर्मा से ही पकड़ा, और पचास साल तक उसके इर्द-गिर्द लेखन कार्य करते हुए उसे एक सुव्यवस्थित 'मार्क्सवादी' प्रपत्ति की तरह विकसित किया। मुझे यकीन है कि लगभग सभी हिंदी-बुद्धिजीवियों ने हिंदी जाति की अवधारणा पर रामविलासजी के लंबे-लंबे और प्रभावशाली आख्यान पढ़े हैं। मेरे पास इस संबंध में उनका सबसे ताज़ा वक्तव्य १९९६ का है जिसे मैं यहाँ संक्षेप में अपनी ज़रूरत पूरा करने के लिए दे रहा हूँ :

> भारतीय संस्कृति यहाँ की जातीय संस्कृतियों से अलग हट कर कोई चीज़ नहीं है। जैसे यहाँ बंगाल है, जहाँ बाँग्ला-भाषी लोग रहते हैं, बंगाली जाति रहती है। ... ऐसे ही तमिलनाडु है जहाँ तमिल-भाषी जनता रहती है। ... हम लोग हिंदी जो बोलते हैं, उनमें जातीय चेतना कम है। बंगाल, महाराष्ट्र या तमिलनाडु की अपेक्षा हमारे हिंदी-भाषी क्षेत्र में जातीय चेतना कम है। ... जब तक जातीय चेतना की कड़ी को नहीं पकड़ा जाएगा, हिंदी जाति को संगठित नहीं किया जाएगा, हिंदी भाषा के सारे जनपदों को मिला कर एक बड़ा राज्य नहीं बनाया जाएगा, तब तक यहाँ जातीय विकास नहीं हो सकता। ... जैसे भारत का प्रबंध करते हैं और राज्यों को अधिकार देते हैं, उसी तरह सारे हिंदी-भाषी राज्यों को मिला कर एक राज्य हो। वहाँ केंद्र में जो सत्ता होगी, वह सामान्य नीति निर्धारित करेगी। जो हमारे यहाँ कमिश्नरियाँ हैं वे किस मर्ज़ की दवा हैं ? इन कमिश्नरियों को जनपदीय आधार पर पुनर्गठित कीजिए। जितने जनपद हैं— जैसे अवधी, भोजपुरी, बुंदेली, मैथिली— इनको बुनियादी प्रशासनिक इकाइयाँ बनाइए। [३८] ... (जनपदीय भाषाओं के विश्वविद्यालय बनाने वाला उद्धरण)

रामविलासजी ने इसी बात को तरह-तरह से लाखों शब्दों में बार-बार पेश किया है। अपनी बात पर ज़ोर देने के लिए उन्होंने सोवियत उदाहरण का ज़बरदस्त दोहन किया, और 'स्तालिन की शपथ' के नाम से विख्यात उस भाषण को उद्धृत किया जिसमें अक्टूबर क्रंति की चौबीसवीं जयंती के मौके पर द्वितीय विश्व-युद्ध की परिस्थितियों में जर्मन आतताइयों को लक्ष्य करके स्तालिन ने पूरे सोवियत संघ की एक ही जाति यानी रूसी जाति बताई है। [३९]

जाहिर है कि रामविलासजी भारत के स्तालिन नहीं थे, न ही भारत सोवियत संघ था। वैसे भी उनका मक़सद तमिल या बंगाली जाति को हिंदी जाति बताना न हो कर पंजाबी-उर्दू-हिंदुस्तानी-हिंदी-भोजपुरी-अवधी-ब्रज-मैथिली को मिला कर बननने वाली भारत की सबसे बड़ी स्पीच कम्युनिटी को हिंदी जाति के रूप में परिभाषित करना था। इसके लिए उन्होंने ज़बरदस्त बौद्धिक श्रम किया, सैद्धांतिक नवाचार किए, समाज-विज्ञान में मार्क्सवाद और राष्ट्रवाद के आपसी संबंधों पर प्रचलित बेनेडिक्ट एंडरसन, पार्थ चटर्जी और सुदीप्त कविराज की धारणाओं को ठुकराया। उन्होंने सबाल्टर्न इतिहास-लेखन को भी जम कर आड़े हाथों लिया। [४०] कथा यहीं समाप्त हो जाती है।

---

[38] संजीव क्षितिज से रामविलास शर्मा की बातचीत, 'हिंदी जाति की एकता के लिए आंदोलन चलाना चाहिए', *मेरे साक्षात्कार,* उपरोक्त, पृष्ठ ३३०-३४३।

[39] रामविलासजी ने इस उद्धरण का प्रयोग अपने लंबे निबंध 'भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ' के बिल्कुल अंत में किया है। इसी शीर्षक से छपी किताब में संकलित इस निबंध का एक बड़ा हिस्सा मैनेजर पांडेय द्वारा की गई आलोचना के खंडन का है। पचास और साठ के दशक के दौरान लिखी गई रामविलासजी की ही रचनाओं के उद्धरणों से भरा यह लेख उनकी बुनियादी मंशा जानने का एक अच्छा संक्षिप्त ज़रिया हो सकता है।

[40] रामविलास शर्मा ने जीवन के आखिरी दौर में सबाल्टर्न इतिहासकारों पर ज़बरदस्त हमला किया। उन्होंने *भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश,* उपरोक्त के दूसरे खंड के छठें और सातवें अध्याय के साथ-साथ इसके परिशिष्ट में इस आलोचना पर कुल १२७ पृष्ठ खर्च किए हैं। चूँकि यह विस्तृत आलोचना हिंदी में लिखी गई है, इसलिए समाज-विज्ञान की अंग्रेज़ीपरस्त दुनिया में इसकी कोई चर्चा सुनने को नहीं मिलती। सबाल्टर्न स्कूल की आलोचना अन्य

अंतर्कथा यह है कि रामविलासजी ने जिस उत्साह से स्तालिन का भाषण उद्धृत किया, वैसी उत्साहपूर्ण निष्ठा उनके भीतर भाषा समस्या हल करने के लिए सोवियत संघ में अपनाये गए मॉडल के प्रति नहीं थी। मेरा समझ यह है कि वे इस मॉडल को सार्वभौम और हर जगह लागू करने लायक नहीं मानते थे। उनकी कोशिश यह थी कि यह मॉडल हिंदी-क्षेत्र पर लागू न किया जाए। इसके उलट वे स्थापना यह रख रहे थे कि तमाम जनपदीय भाषाओं के बीच से एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के दौरान हिंदी नाम की एक जातीय भाषा उभर चुकी है। इसलिए अलग-अलग भाषाओं को मान्यता देने का मतलब होगा इस ऐतिहासिक प्रक्रिया की उपलब्धियों का तिरस्कार, और साथ में हिंदी-क्षेत्र की समग्र अस्मिता का तिरस्कार। दूसरी तरफ, रामविलासजी की रणनीति यह थी कि हिंदी-क्षेत्र को छोड़ कर बाकी पूरे भारत के संदर्भ में इस मॉडल को लागू किया जा सकता है। उन्होंने अपनी तरफ से इस मॉडल के सैद्धांतिक आधार पर खड़े हो कर भारतीय राष्ट्रवाद को बहुजातीय-बहुभाषी अर्थों में परिभाषित किया। हिंदी-क्षेत्र में सोवियत मॉडल लागू करने के ठोस प्रस्ताव तो शिवदान सिंह चौहान और राहुल सांकृत्यायन की तरफ से आ रहे थे। ये दोनों विद्वान इस क्षेत्र की हर भाषा को पृथक भाषा की तरह मान्यता देने के पक्ष में थे। राहुलजी 'जितनी भाषाएँ-उतनी जातियाँ' के उसूल के आधार पर हिंदी-क्षेत्र का भाषावार बँटवारा चाहते थे। राहुलजी भोजपुरी के तीन रूपों (मल्लिका, काशिका, बज्जिका) को भी अलग-अलग बताते थे। इस हिसाब से भोजपुरी-क्षेत्र भी तीन हिस्सों में बँटना चाहिए था। [४१] सोवियत मॉडल पर इससे ज़्यादा परम-यांत्रिक अमल नहीं हो सकता था। अगर चौहान-राहुल थीसिस मान ली जाती तो उत्तर भारत का जो हाल होता वह तो होता ही, राज-भाषा के रूप में हिंदी के संविधानजनित वर्चस्व का न केवल नाश हो जाता, बल्कि अंग्रेज़ी को प्रतिस्थापित कर सकने वाली अखिल भारतीय सम्पर्क-भाषा के रूप में हिंदी की संभावनाएँ भी नष्ट हो जातीं। भला, जिस भाषा का अपना कोई सुपरिभाषित क्षेत्र न होता, उसे सारे भारत की लिंक-लेंग्वेज कैसे बनाया जा सकता था?

१९४९ में ही रामविलासजी राहुल-शिवदान की जोड़ी से भिड़ गए और 'भारत की भाषा समस्या' शीर्षक निबंध में अपनी स्थापना पेश करते हुए पूछा कि अवधी, ब्रजभाषा, बुंदेलखंडी आदि बोलियाँ हैं या भाषाएँ; उनके बोलने वाले हिंदुस्तानी जाति के अंतर्गत हैं या भिन्न-भिन्न स्वतंत्र जातियों के रूप में विकसित होंगे? भारतेंदु युग के सभी लेखक भोजपुरी, ब्रज या अवधी वगैरह क्षेत्रों के थे, पर उन्होंने गद्य के लिए उन्नीसवीं सदी में ही खड़ी बोली का प्रयोग शुरू कर दिया था। रामविलासजी ने मान्यता व्यक्त की कि अगर ब्रिटिश पूँजीवाद से टक्कर होने के कारण भारतीय पूँजीवाद के सहज विकास में बाधा न पड़ी होती तो व्यापारिक पूँजीवाद के रास्ते भारत में पूँजीवाद का देशज विकास हो गया होता। इसके बाद १९५३, १९५६ और १९६१ की रचनाओं में वे बार-बार इस स्थापना की ओर लौटे, उसे आगे बढ़ाया और आग्रह किया कि हिंदी जाति की रचना भारतेंदु युग से नहीं हुई बल्कि बारहवीं सदी से शुरू हो गई थी, और यही वह युग था जब सारे भारत में व्यापारिक पूँजी के प्रभाव में जातियों की रचना हो रही थी। कम्युनिस्ट घोषणापत्र के एक लंबे उद्धरण का इस्तेमाल करके उन्होंने दिखाया कि पूँजीपति वर्ग की राजनीतिक प्रगति किस तरह क्रमशः होती है। पहले बिना कारखानों के व्यापार के

मार्क्सवादियों ने भी की है। उन आलोचनाओं और रामविलासजी की आलोचनाओं के बीच अंतर देखते हुए इस प्रसंग पर अलग से अध्ययन की आवश्यकता है। रामविलासजी के इन विचारों की बेलौस तरफदारी के लिए देखें, रविभूषण, 'सबाल्टर्न इतिहास की सीमा', *वसुधा-५१.* उपरोक्त, पृष्ठ ११३-१३

[41] मै अपने इस तर्क का श्रेय भगवान सिंह को दूँगा जिन्होंने 'राहुल सांकृत्यायन से रामविलास शर्मा का मतभेद' में इसकी तरफ संकेत किया है। देखें, *प्राचीन भारत के इतिहासकार,* उपरोक्त, पृष्ठ ११४-१३९

ज़रिए वह आगे बढ़ता है, फिर दस्तकारी वाले कारखाने आते हैं और तब बाद में मशीनों वाले कारखानों के युग में वह अपनी सत्ता कायम करता है। मिखाइलोव्स्की की धारणाओं का खंडन करने वाले लेनिन के उद्धरण का प्रयोग करके उन्होंने दिखाया कि जाति-निर्माण की प्रक्रिया के नेता किस प्रकार व्यापारी पूँजीपति होते हैं, इसलिए जातीय संबंधों का निर्माण पूँजीवादी संबंधों के निर्माण के अलावा कुछ नहीं है। आम तौर पर जाति, कौम और राष्ट्रीयता को पर्यायवाची माना जाता है, पर लेनिन के हवाले से रामविलास शर्मा की निष्पत्ति यह थी कि 'जाति वह मानव समुदाय है जो व्यापार द्वारा पूँजीवादी संबंधों के प्रसार के साथ गठित होती है।' इसके साथ ही रामविलासजी ने स्तालिन द्वारा किए गए लघुजाति और महाजाति के बीच भेद का भी जिक्र किया।

विश्लेषण के इस मुकाम पर रामविलासजी की सैद्धांतिक कारीगरी का एक जायजा ले लेना ज़रूरी है। इस कारीगरी के दौरान मार्क्सवाद से बँधा हुआ मसूसस करना उनके लिए ज़रूरी नहीं था, क्योंकि मार्क्स ने राष्ट्रवाद की कोई थियरी तज्वीज़ नहीं की है। उल्टे उन्होंने इस मसले पर जो विरासत छोड़ी है, उसके अंतर्विरोधों की विद्वानों द्वारा शिनाख़्त की जा चुकी है। यहाँ तक कि लेनिन द्वारा दिया गया राष्ट्रीयताओं के आत्म-निर्णय का उसूल भी कई राष्ट्रीयताओं वाली परिस्थितियों में अपनायी जाने वाली एक राजनीतिक रणनीति के रूप में देखा जाता है। इस रणनीति पर बोल्शेविकों ने ज़ार के साम्राज्य को तोड़ने के लिए तो अमल किया, पर अपनी सत्ता स्थापित होते ही उसे दूसरी तरह से परिभाषित करने लगे। १९१३ में स्तालिन राष्ट्रवाद की अपनी परिभाषा लेकर आए। उन्होंने राष्ट्र को ऐतिहासिक रूप से विकसित एक भूभाग, एक भाषा, एक आर्थिक जीवन और एक ही प्रकार के मानस से युक्त सांस्कृतिक समुदाय का पर्याय करार दिया।[४२] स्तालिन द्वारा दी गई यह परिभाषा मार्क्सवादियों के बीच बहुत लोकप्रिय है। लेकिन, इसकी सरलता और सपाटपन ने बाद के विद्वानों को मज़बूर किया कि वे मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, काउत्स्की, रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग और ऑटो बाउर के राष्ट्र संबंधी लेखन की तरफ लौटें। इस प्रक्रिया में मार्क्सवाद और राष्ट्रवाद के बीच अन्योन्नक्रिया का का उत्तर-मार्क्स, उत्तर-लेनिन और उत्तर-स्तालिन विमर्श तैयार हुआ। इसमें सभी ने अपनी-अपनी समझ से मार्क्स की तत्संबंधित टिप्पणियों का इस्तेमाल किया है। रोनाल्ड मंक इसीलिए कहते हैं कि राष्ट्रवाद और मार्क्सवाद के बीच संवाद खासा उलझा हुआ है।

पिछले तीस साल में जिस स्थापना ने मार्क्सवाद ही नहीं, बल्कि उसके बाहर के विद्वानों को प्रभावित किया है, वह है बेनेडिक्ट एंडरसन द्वारा प्रवर्तित राष्ट्र को कल्पित समुदाय मानने वाली थियरी।[४३] विडम्बना यह है कि खुद इस थियरी के जनक एंडरसन इस मान्यता के समाज-विज्ञानियों द्वारा किए जाने वाले इस्तेमाल से असहज हैं। पिछले दिनों जब अंतर्राष्ट्रीय समाजशास्त्र सम्मेलन के विशिष्ट अतिथि के रूप में जब वे भारत आए तो मैंने उनका भाषण सुनते हुए महसूस किया कि वे अपनी इस विख्यात कृति से खुद को दूर करने की कोशिश कर रहे हैं। उनका कहना था कि उनके लिए यह पुस्तक एक ऐसी प्यारी बेटी की तरह है जो बस कंडक्टर के साथ भाग गई हो। दोपहर के भोजन पर जब हम लोग उनके इस फ़िकरे पर चर्चा कर रहे थे तो आदित्य निगम ने इसका मतलब निकालते हुए बताया कि एंडरसन ने इस पुस्तक का लेखन राष्ट्रवाद की ताकत दिखाने के लिए किया था, लेकिन मार्क्सवादी हल्कों में इसका इस्तेमाल बड़े पैमाने पर राष्ट्रवाद की आलोचना के लिए होने लगा है जो कि एंडरसन का मक़सद नहीं था।

---

[42] स्तालिन, जे.वी., *मार्क्सिज़म एंड नैशनल क्वेश्चन,* फॉरैन लेंग्वेज पब्लिशिंग हाउस, मास्को, १९८३

[43] एंडरसन, बेनेडिक्ट, *इमेजिंड कम्युनिटीज़ : रिफ्लेक्शंस ऑन दि ओरिजिंस एंड दि स्प्रेड ऑव नैशनलिज़म,* न्यू लेफ्ट बुक्स, लंदन, १९८३

रामविलास शर्मा ने भी अपने लिहाज से मार्क्सवाद और राष्ट्रवाद का एक समीकरण बनाया है। हालाँकि लोग उन्हें ढीले-ढाले ढंग से स्तालिनवादी कहते हैं, पर उन्होंने इस मामले में स्तालिन द्वारा दी गई परिभाषा पर चलने के बजाय अपना स्वतंत्र विश्लेषण करना पसंद किया जो भारतीय इतिहास और संस्कृति की उनकी अपनी समझ पर आधारित था।

अगर मंक द्वारा मार्क्सवाद और राष्ट्रवाद से संबंधित विमर्श के सार-संकलन पर जाएँ, तो लगता है कि सांस्कृतिक और भाषाई जाति की परिकल्पना मार्क्सवादी विमर्श के लिए अजनबी नहीं है। इसका प्रतिपादन ऑटो बाउर ने किया था। रामविलास शर्मा ओटो बाउर द्वारा दी गई राष्ट्र की इसी सकारात्मक परिभाषा के काफी नज़दीक खड़े हैं। थोड़ा फर्क यह है कि उन्होंने बाउर के मुकाबले भाषा पर ज़्यादा ज़ोर दिया है। उन्नीसवीं सदी के अंत और बीसवीं सदी की शुरुआत में सक्रिय ऑस्ट्रो-मार्क्सवादी स्कूल के विद्वान बाउर राष्ट्र को एक सांस्कृतिक और ऐतिहासिक समुदाय के रूप में देखते थे जो आगे चल कर राज्य का रूप ग्रहण कर लेता है। काउत्स्की ने बाउर की यह कह कर आलोचना की थी कि वे राष्ट्र के लिए एक भाषा की शर्त की अनदेखी कर रहे हैं, जिसके जवाब में बाउर ने साफ किया कि वे एक भाषा होने की शर्त मानते हैं, लेकिन संस्कृति आधारित समुदाय एक भाषा के आग्रह से परे जाकर भी राष्ट्र बन सकता है। बाउर की विशेषताएँ दो थीं। पहली, उन्होंने राष्ट्र की अवधारणा ऐतिहासिक भौतिकवाद के खाँचे के भीतर व्याख्यायित करते हुए भी खुद को आर्थिक घटाववाद के चक्कर में नहीं फँसने दिया। दूसरी, वे हिगेल द्वारा प्रवर्तित ऐतिहासिक और अनैतिहासिक राष्ट्रों की उन श्रेणियों के शिकार भी नहीं हुए जिनके प्रभाव में मार्क्स और एंगेल्स ने क्रांतिकारी और ग़ैर-क्रांतिकारी राष्ट्रों की धारणा तैयार कर ली थी। भारत जैसा देश हिगेल के लिए अनैतिहासिक राष्ट्र था जिसमें क्रांतिकारी संभावनाएँ नहीं थीं। बाउर ने कहा कि इतिहास से वंचित राष्ट्र भी जागरण के दौर से गुज़रते हैं और अपनी मुक्ति के लिए संघर्ष करते हैं।[44] मंक यह भी बताते हैं कि ऐसे मार्क्सवादी विद्वानों की दुनिया में कमी नहीं है जो बाउर की धारणाओं से मिलते-जुलते सूत्रीकरणों के ज़रिए आज के ज़माने के राष्ट्र-राज्यों के पीछे जातियों (राष्ट्रीयताएँ) को देखते हैं, उन जातियों को जिनकी रचना औद्योगिक पूँजीवाद के उभार से बहुत पहले सांस्कृतिक समुदाय के रूप में हुई होगी। कुल मिला कर रामविलास शर्मा की राष्ट्रवाद संबंधी मार्क्सवादी समझ यह है कि पहले सांस्कृतिक और भाषाई जातियाँ बनेंगी और उनके आधार पर राष्ट्र की रचना होगी। उन्होंने जातियों के निर्माण की प्रक्रिया औद्योगिक पूँजीवाद के उभार से सदियों पहले व्यापारिक पूँजीवाद की गतिविधियों के परिणाम की तरह देखी। चूँकि एंडरसन राष्ट्र को कल्पित करार देते हैं और उसे प्रिंट कैपिटलिज़म के उभार से जोड़ कर देखते हैं, इसलिए रामविलासजी उनसे सहमत होने के लिए तैयार नहीं हुए।

एक बार जब रामविलासजी को संतोष हो गया कि उन्होंने मार्क्सवाद की मदद से व्यापारिक पूँजी (उनके शब्दों में व्यापारिक पूँजीवाद) और हिंदी जाति के उद्गम का बारहवीं सदी का रिश्ता साबित कर दिया है, तो फिर उन्होंने अपनी थीसिस को सम्पूर्ण करने के लिए दो उद्यम और किए। पहला, हिंदी के उभार में जनपदीय भाषाओं की सहयोगी भूमिका का विस्तार से विवेचन करके राहुल-शिवदान की जोड़ी द्वारा हिंदी बनाम

[44] मंक, रोनाल्डो, *दि डिफीक्ल्ट डायलॉग: मार्क्सिज़म एंड नैशनलिज़म,* ऑक्सफोर्ड, दिल्ली, १९८६; राष्ट्रवाद पर मार्क्सवादी विमर्श के सार-संकलन के लिए देखें, पृष्ठ १४४-१६१ और ऑटो बाउर के योगदान के लिए देखें, पृष्ठ ३९-४२

जनपदीय भाषाओं के फारमूले को कोने में धकेल दिया।[४५] दूसरा, उर्दू और हिंदी साहित्य की बुनियादी एकता को बार-बार स्थापित किया। एक तरफ उन्होंने अपनी रचनाओं में हिंदी के संस्कृतनिष्ठ हिंदू रुझाने वाले राष्ट्रवादियों की बेमिसाल धुनाई की।[४६] दूसरी तरफ उनके प्रहारों से वे उर्दूदाँ भी न बच सके जो उन्नीसवीं सदी के हिंदी-उर्दू विवाद की शैली में हिंदी भाषा और साहित्य की छीछालेदर करने में लगे हुए थे।[४७] यह सब करना उन्हें इसलिए ज़रूरी लगा होगा कि हिंदी-क्षेत्र की संरचना तमिल, बांग्ला या मराठी क्षेत्रों की तरह कमोबेश इकहरी न हो कर बहुकेंद्रीय थी।

वर्चस्व का लोकतंत्रीकरण : हिंदी के वर्चस्व की रक्षा करके ही रामविलासजी के भाषा-संबंधी कर्तव्य की इतिश्री नहीं हुई। उनकी परियोजना में भारतीय मूल की एक अखिल भारतीय सम्पर्क भाषा को अंग्रेजी की जगह स्थापित करना भी शामिल था। इसके लिए ज़रूरी था कि वे हिंदी के प्रति अन्य भारतीय भाषाओं के अंदेशों को दूर करने का प्रयास करते।

नित्यानंद तिवारी ने १९८६ में प्रकाशित *भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएँ* के कुछ अंश उद्धृत करते हुए प्रदर्शित किया है कि रामविलास शर्मा किस तरह इंग्लैंड की बजाय स्विटज़रलैंड के नमूने को भारत के लिए अधिक उपयुक्त मानते थे। स्विस संविधान तीन-तीन भाषाओं को राज-भाषा का दर्जा देता है। चूँकि इंग्लैंड में अंग्रेज़ी का प्रभुत्व वेल्श और गेलिक के दमन पर आधारित है, इसलिए भाषाओं का दमन करने वाला राष्ट्रवाद भारत के लिए आदर्श नहीं हो सकता।[४८] दरअसल, एक भाषा-एक जाति-एक राष्ट्र के प्रचलित मार्क्सवादी आग्रह के विपरीत रामविलास शर्मा ने बहुजातीय राष्ट्रवाद की अपनी थियरी का विकास १९४९ से १९५६ के बीच चली बहसों के दौरान ही कर लिया था। १९५५ में कम्युनिस्ट पार्टी के मुख पत्र न्यु एज में प्रकाशित उनका अंग्रेज़ी में लिखा लंबा विश्लेषणात्मक लेख 'दि क्वेश्चन ऑव ऑब्लिगेटरी स्टेट लेंग्वेज ऑव इंडिया' एक ऐसी बेहतरीन कृति है जिसका अध्ययन उन सभी लोगों को करना चाहिए जिन्हें भारत की भाषा-समस्या के हल में दिलचस्पी है। पचास के दशक में कई राज्यों की विधान सभाओं ने राज-भाषा कानून पारित कर लिए थे, फिर भी उनके सरकारी कामकाज और शिक्षा पर हावी अंग्रेजी को हटाया नहीं जा सका था। हिंदीभाषी क्षेत्र में भी यही स्थिति थी। रामविलासजी ने इस लेख में अनिवार्य राज-भाषा और राज-भाषा की अवधारणाओं में फर्क करते हुए कहा कि देशी जड़ों वाली राज-भाषा आज़ाद भारत की एक आवश्यकता है, पर अनिवार्य राज-भाषा एक जन-विरोधी और राष्ट्र-विरोधी तर्क है। उन्होंने पूछा : 'संविधान में हिंदी को राज-भाषा का पद दिया गया है, किंतु इस राज-भाषा का कार्यक्षेत्र क्या है ? अंग्रेजी ने राज-भाषा बन कर प्रादेशिक भाषाओं के बहुत से अधिकार छीन लिए थे। विभिन्न राज्यों को स्वायत्त शासन के काफी अधिकार दिए बिना अंग्रेजी की जगह हिंदी

---

[45] हिंदी के विकास में जनपदीय भाषाओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका के भाषाशास्त्रीय प्रमाणों के लिए देखें : शर्मा, रामविलास, *भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिंदी* (तीन खंड), राजकमल, दिल्ली, १९७६ (विशेष तौर से पहला खंड : आर्यभाषा केंद्र और हिंदी जनपद)। निराला के उद्धरण के लिए देखें : कंठ, उपरोक्त।

[46] शर्मा, रामविलास, 'राष्ट्र-भाषा हिंदी और हिंदू राष्ट्रवाद', *भारत की भाषा समस्या,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, तीसरा संस्करण, दूसरा पुनर्मुद्रण, २०११

[47] शर्मा, रामविलास, 'हिंदी भाषा, साहित्य और फ़िराक़', *परम्परा का मूल्यांकन,* राजकमल, दिल्ली, १९८१, पृष्ठ २१८-२५३

[48] तिवारी, नित्यानंद, 'साहित्य के इतिहास का नया दृष्टिकोण', *वसुधा*-५१. उपरोक्त, पृष्ठ ११-१८

को देने का मतलब है, दूसरी भाषाओं के अधिकार नियंत्रित करना। ... ... अपने-अपने प्रांतों में प्रादेशिक भाषाएँ ज्ञान-विज्ञान और राजकाज की भाषाएँ बन जाएँगी, तभी हिंदी सचमुच राष्ट्र-भाषा बनेगी।' [४९]

अहिंदीभाषी इलाकों में हिंदी का प्रसार करने के लिए गाँधी द्वारा दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा की स्थापना बीस के दशक के पहले ही कर दी गई थी। गाँधी ने सम्पर्क-भाषा चुनने के लिए एक पाँच सूत्रीय फारमूला सुझाया था। इसके अनुसार भारत की सम्पर्क-भाषा वह होनी चाहिए थी जिसे सरकारी अधिकारी आसानी से सीख सकें, जो पूरे भारत में धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक अन्योन्यक्रिया का आपसी माध्यम बनने में सक्षम हो, भारतवासियों का बहुलांश जिसे बोलता हो, पूरा देश जिसे आसानी से सीख सके और जिसका चुनाव अस्थायी या चलताऊ दिलचस्पियों से परे जा कर किया जाए। [५०] यह फारमूला १९१७ में द्वितीय गुजरात शिक्षा सम्मेलन में राष्ट्र-भाषा के लक्षण बताते हुए दिया गया था। गाँधी का यह भी कहना था कि इन पाँच में से एक भी लक्षण अंग्रेजी भाषा में तो है ही नहीं, और इस लिहाज से हिंदी की होड़ करने वाली और कोई भाषा नहीं है। रामविलास शर्मा के भाषा संबंधी विवरणों और दलीलों को पढ़ कर लगता है कि जैसे उन्होंने गाँधी की बातों को पुष्ट करने के लिए ही सब-कुछ लिखा हो।

सम्पर्क-भाषा बनने की हिंदी की क्षमता से संबंधित गाँधी का उपरोक्त वक्तव्य केवल गाँधी की निजी आस्था पर ही आधारित नहीं था। इसके पीछे कुछ उल्लेखनीय संरचनागत कारण थे जिनसे साबित होता था कि हिंदी ही बहुभाषी भारत की सम्पर्क-भाषा बन सकती है। अपने विशाल प्रदेश की जनपदीय भाषाओं के बीच तो हिंदी पहले से ही सम्पर्क-भाषा की भूमिका निभा रही थी, क्या वह गैर-हिंदीभाषियों के बीच भी सम्पर्क-भाषा बनने की स्थिति में थी? इस प्रश्न का एक उत्तर रामविलास शर्मा ने इस प्रकार दिया है :

> कई शताब्दियों से देश की विशेष परिस्थितियों के कारण हिंदी अंतर्जातीय व्यवहार की भाषा बनती जा रही है। उत्तर भारत में केंद्रबद्ध मुगल शासन का होना, यहाँ आगरा जैसे व्यापार के बड़े-बड़े केंद्रों का निर्माण, उन्नीसवीं सदी के पूर्व ही यहाँ के लोगों का विभिन्न प्रदेशों में फैलना ऐसे ही कारण थे। अंग्रेज़ व्यापारी भी उस समय अपनी सुविधा के लिए हिंदी ही सीखते थे। वर्तमान काल में दक्षिण, पूर्व, पश्चिम, सर्वत्र ऐसे व्यापारी और पूँजीपति मिलेंगे जिनकी सांस्कृतिक भाषा हिंदी है। हिंदी के प्रसार का एक बहुत बड़ा कारण कलकत्ता-बंबई जैसे केंद्रों में लाखों 'हिंदुस्तानी' मज़दूरों का निवास है। इन बड़े-बड़े नगरों के अतिरिक्त प्रत्येक जातीय प्रदेश में अल्पसंख्यकों के रूप में हिंदुस्तानी मिलेंगे। विशाल आंध्र में हैदराबाद और उसके आस-पास हिंदुस्तानियों का भारी जमघट है। अहिंदी प्रदेशों में इस प्रकार हिंदी को अंतर्जातीय व्यवहार की भाषा बनाने में सुविधा मिली है। ... ... इनके सिवा हिंदी भाषा, लिपि और साहित्य की कुछ विशेषताएँ हैं जो इस कार्य में सहायता करती हैं। [५१]

अपने इसी संक्षिप्त विवरण को रामविलास शर्मा ने काफी विस्तार से अपनी महान रचना *भाषा और समाज* में पेश किया है। उन्होंने ऐसे तमाम प्रमाण जुटाए हैं जिनके मुताबिक हिंदी और उसके क्षेत्र की जनपदीय भाषाएँ

---

[49] शर्मा, रामविलास, *भारत की भाषा समस्या,* उपरोक्त, पृष्ठ १०५; रामविलासजी के अंग्रेजी लेख के लिए देखें : सुरेश के. शर्मा, *लेंग्वेज इन कंटेम्परेरी इंडिया,* पहला खंड, विस्टा इंटरनेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, २००६, पृष्ठ १२७-१५१; इसी लेख के हिंदी संस्करण के लिए देखें *भारत की भाषा समस्या*।

[50] उद्धृत : दास गुप्ता, ज्योतिरिंद्र, *लेंग्वेज क्रांफ्लिक्ट एंड नैशनल डिवेलपमेंट,* यूनिवर्सिटी ऑव कैलिफोर्निया प्रेस, बर्कले और लॉस एंजेलस, १९७०, पृष्ठ १०९; कंठ, विनय, 'हिंदी निर्माण और राष्ट्र की अवधारणा', संकलित : अग्रवाल, पुरुषोत्तम और संजय कुमार (सम्पा.), *हिंदी नई चाल में ढली : एक पुनर्विचार,* देशकाल प्रकाशन, दिल्ली, २०००, पृष्ठ १६-२६

[51] शर्मा, राम विलास, 'बहुजातीय राष्ट्रीयता और राष्ट्र-भाषा हिंदी', *भारत की भाषा समस्या,* उपरोक्त, पृष्ठ १२४

अंग्रेजों के पहले से अहिंदीभाषियों की सांस्कृतिक चेतना से जुड़ी हुई थीं। वे दिल्ली के असिस्टेंट रेज़ीडेंट सी.टी. मेटकाफ़ का जे.बी. गिलक्रिस्ट को २९ अगस्त, १८०६ का लिखा एक पत्र उद्धृत करते हैं। गिलक्रिस्ट ने मेटकाफ़ को हिंदुस्तानी सिखाई थी, इसलिए वे कृतज्ञता व्यक्त करते हुए कहते हैं कि 'मैं इसी वजह से कन्याकुमारी से कश्मीर तक और आवा से सिंधु के मुहाने तक इस विश्वास से यात्रा करने की हिम्मत कर सकता हूँ कि मुझे हर जगह ऐसे लोग मिल जाएँगे जो हिंदुस्तानी बोल लेते होंगे। ... ... हर कोई जानता है कि जिस विशाल इलाके का मैंने जिक्र किया है, उसमें बहुत सी भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोली जाती हैं। इन भाषाओं का न बोला जाना एक ताज्जुब की बात होती, लेकिन हिंदुस्तानी एक ऐसी ज़ुबान है जो आम तौर पर उपयोगी साबित होती है और मेरी समझ में संसार की किसी भी भाषा के मुकाबले उसका व्यवहार बहुत बड़े पैमाने पर होता है।' [५२] रामविलास शर्मा ने व्यापारिक पूँजी के अखिल भारतीय प्रसार के आईने में हिंदी के प्रसार का यह चेहरा साठ और सत्तर के दशक में पेश किया था। हाल ही में विनोद शाही ने हिंदी की हैसियत पर हुई एक गोष्ठी में वितरित अपने पर्चे में कुछ ऐसा ही दावा किया है कि हिंदी का इस्तेमाल करने वाला वर्ग मुख्यत: शहरों के व्यापारियों, व्यवसायियों, दस्तकारों और शिल्पियों का था। [५३]

जैसा कि हमने देखा कि रामविलासी का भाषा संबंधी उद्यम दो पैरों पर खड़ा है। एक तरफ वे विशाल और बहुकेंद्रीय हिंदी-क्षेत्र में इस भाषा का एकमेव वर्चस्व चाहते हैं। अपने रचनाकाल के शुरुआती हिस्से में वे हिंदी-क्षेत्र की भाषाओं को 'बोलियाँ' कहते हैं, बाद में रियायत दे कर 'भाषा' कहने लगते हैं, पर साथ में 'जनपदीय' लकब लगाना कभी नहीं भूलते। उनका विचार है कि जनपदीय भाषाओं को विकिसत करने के लिए सुचिंतित नीतियाँ और कार्यक्रम चलाए जाने चाहिए, लेकिन यह प्रक्रिया हिंदी की छत्रछाया में ही चलेगी। लेकिन इस हिंदी की प्रकृति कैसी होगी? इस मामले में वे राज-भाषा बनाने की परियोजना के साथ खड़े होने के लिए तैयार नहीं हैं। कांग्रेस सरकार ने जब हिंदी के तकनीकी, वैज्ञानिक और प्रशासनिक पहलुओं को समृद्ध करने के लिए डॉ. विश्वनाथ प्रसाद की अध्यक्षता में पारिभाषिक शब्दकोश बनाने के लिए समिति बनाई तो रामविलास शर्मा को भी उसका सदस्य बनाया गया। जैसा कि उनका आग्रह रहता, इस मामले में भी उन्होंने तय किया कि पहले परम्परा का मूल्यांकन किया जाना चाहिए। रामविलासजी ने डॉ. प्रसाद को सुझाया कि नया शब्दकोश बनाने से पहले हिंदी में जितने पारिभाषिक शब्द रचे गए हैं, जिनका ख़ास तौर पर उन्नीसवीं सदी में व्यवहार होता आ रहा था, उनका एक कोश तैयार किया जाए। उन्होंने यह बात रामधारी सिंह 'दिनकर' से भी कही जो उस समिति के सदस्य थे। पर किसी के कान पर जूँ भी न रेंगी। इस पर रामविलासजी ने समिति से इस्तीफा दे दिया। उनका तर्क था :

> जब आप (भाषा के) वैज्ञानिक विकास की बात करते हैं तो पहले इस बात का ज्ञान कर लें कि हिंदी में कितनी शब्द-सम्पदा है। यहाँ पर बहुत सारे कोश उन अंग्रेज़ों ने बनाए हैं जो अपने अफ़सरों को हिंदी पढ़ाया करते थे। १८वीं सदी में दक्षिण में जितने भी ब्रिटिश अफसर थे, उनके लिए हैदराबादी हिंदी अनिवार्य थी। उनमें एक जॉन शेक्सपीयर थे, जिनकी पुस्तक मैंने देखी है। उस पुस्तक के अंत में एक शब्द-सूची है। उसमें वनस्पतिशास्त्र, भूगभशास्त्र के शब्द हैं। जहाजरानी के तो इतने शब्द हैं कि अंग्रेज़ी का एक शब्द है तो हिंदुस्तानी के पाँच। इसके बात सुखसंपत राय भंडारी ने

---

[52] शर्मा, राम विलास, *भाषा और समाज,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पाँचवा संस्करण, पुनर्मुद्रण, २०१०, पृष्ठ ३८०-८३; मेटकाफ़ के लिए देखें : जे.बी. गिलक्रिस्ट, *ए वोकैबुलरी, हिंदुस्तानी एंड इंग्लिश एंड हिंदुस्तानी,* एडिनबरा।

[53] विनोद शाही का हस्तलिखित आलेख 'भाषा की ज्ञान-कुण्ठा उर्फ आधुनिकता का द्वैध और हिंदी' भारत भवन, भोपाल में २४-२५ सितम्बर, २०११ को हुई विचार-गोष्ठी 'भूमंडलीकरण और हिंदी की अस्मिता' में वितरित किया गया। इस पर्चे की स्थापनाएँ पहली नज़र में महत्त्वपूर्ण लगती हैं, लेकिन अगर विनोद शाही ने अपने दावों के कुछ प्रमाण भी पेश किए होते तो उनकी रचना और भी उपयोगी साबित हो सकती थी।

> सन् ३० के बाद एक पारिभाषित शब्दकोश बनाया था, उसे देखना चाहिए। लेकिन कोई ऐसा नहीं करता और यह मान कर चलते हैं कि हिंदी दरिद्र है और इसे वैज्ञानिक बनाना है। [५४]

जब पारिभाषिक शब्दकोश बन कर तैयार हो गया, तो रामविलासजी ने उसकी समीक्षा करते हुए एक लंबा लेख लिखा जिसमें उन्होंने साबित कर दिया कि शब्दों की उस पोथी में दो-ढाई सौ से अधिक नए शब्द नहीं थे। और, जिन्हें नई शब्द-सूची कहा जा रहा था, वह हिंदी में पहले से प्रचलित और स्थापित है। उन्होंने गणना की ऐसे एक-एक 'नए' शब्द बनाने पर सरकार ने किस दर से जनता के पैसे की बरबादी की है। [५५] अटपटे किस्म के पारिभाषिक शब्दों के इस्तेमाल के तो वे इतने खिलाफ थे कि *कैपिटल* के दूसरे भाग के अनुवाद को उन्होंने अपना अनुवाद मानने से ही इनकार कर दिया। इस अनुवाद की पांडुलिपि पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस ने सम्पादित होने के लिए मास्को भिजवाई थी। वहाँ के सम्पादकों ने रामविलासजी द्वारा इस्तेमाल किए गए बहुत से शब्दों की जगह सरकारी शब्दकोश में दिए गए अटपटे किस्म के पारिभाषिक शब्द रख दिए थे। [५६]

दरअसल, हिंदी-वर्चस्व के लोकतंत्रीकरण का एक बेहद महत्त्वपूर्ण घटक था हिंदी के ग़ैर-मानकीय रूपों की वैधता और आवश्यकता पर लगातार बल और छोटे-छोटे सहज घोषणात्मक वाक्यों वाले भाषाई प्रवाह की पक्षधरता। उनके भीतर 'विचार की दरिद्रता को शब्दाडम्बर से छिपाने' के प्रति गहरा तिरस्कार था। इसी लिहाज़ से उन्होंने हिंदी के ग़ैर-मानकीय रूपों और हिंदी के शिष्ट, साहित्यिक, विमर्शी और परिनिष्ठित रूपों के बीच संबंध का इस प्रकार सूत्रीकरण किया :

> भारत की किसी आम भाषा के इतने ग़ैर-मानक रूप नहीं हैं, जितने हिंदी के हैं। ... हिंदी भाषा के जितने साहित्येतर रूप प्रचलित हैं, उतने किसी और भाषा के नहीं। १९४७ से पहले हैदराबाद की महत्त्वपूर्ण बोली दकनी हिंदी ग़ैर-मानकीय भाषा रही है। ... अंग्रेज़ी राज के पहले कलकत्ते की हिंदी बांग्ला से प्रभावित थी। हमारे हिंदीभाषी प्रदेश में बनारसी हिंदी काफी प्रचलित है। वह अपना अलग ही रंग दिखाती है। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद दिल्ली की भाषा बिल्कुल बदल गई। ज़बाने-दिल्ली हवो हो गई। कहीं-कहीं गली-कूँचों में ही सुनने को मिलती है। अब पंजाबी प्रभावित हिंदी चल रही है। जो लोग कहते हैं कि हिंदी लादी जा रही है, वे लोग देखें कि यह पंजाबी प्रभावित हिंदी कैसे पैदा हो गई। विभाजन के बाद सिंधी भारत में आए और उनसे हिंदी प्रभावित हुई। अमृतलाल नागर ... ने सिंधी प्रभावित हिंदी की भी मिसालें दी हैं। ... स्वाभाविक है कि दूसरी भाषा बोलने वाला जब हिंदी बोलेगा तो उसमें अपनी भाषा की कुछ रंगत उसमे लाएगा, रंग लाएगा, वह अपनी वाक्यरचना की छाप डालेगा, अपनी भाषा का जो ध्वनि-रंग है वह उसमें लगा देगा,उस भाषा को सरल रूप देगा जिससे उसे बोलने में आसानी हो। इन तमाम ग़ैर-मानक रूपों को देख कर अब हिंदी का जो शिष्ट रूप है, उसको इतना साधारण बनना चाहिए कि वह सबकी समझ में आए। यह केवल हिंदी की सेवा नहीं, केवल हिंदी साहित्य की सेवा नहीं है। हिंदुस्तान में जो राजनीतिक जागरण हो रहा है, वह होना है। उसके माध्यम के रूप में जो भाषा बनेगी उसकी कल्पना किया करता हूँ मैं कि वह हमारी जनपदीय बोलियों के बहुत नज़दीक होगी। ... हमारा प्रयत्न होना चाहिए कि हमारी हिंदी बोलियों के, खास कर ब्रज भाषा के नज़दीक हो, उसकी ध्वनि-प्रकृति के बहुत नज़दीक हो। जो सरलता ब्रज भाषा में हो, वह हमारे गद्य में आए। ... दूसरी तरफ प्रदेशों में हिंदी के ग़ैर-मानक रूप चल रहे हैं, बंबई में बंबइया हिंदी, कलकत्ते में कलकतिया हिंदी, दिल्ली में पंजाबी प्रभावित हिंदी, सिंधी प्रभावित हिंदी, इन ग़ैर-मानक रूपों के नज़दीक हमारी हिंदी को पहुँचना चाहिए। [५७]

---

[54] दिलीप चौबे से रामविलास शर्मा की बातचीत, 'दरिद्र नहीं है हिंदी', *राष्ट्रीय सहारा,* १९ सितम्बर, १९९३

[55] शर्मा, 'सरकारी कोशकार और राष्ट्रभाषा', *भारत की भाषा समस्या,* उपरोक्त, पृष्ठ १२४

[56] राजकुमार सैनी से रामविलास शर्मा की बातचीत, 'अनुवाद कर्म की जटिलताएँ', *वसुधा-51,* उपरोक्त, पृष्ठ ३६०-३७९

[57] *मधुमाधवी,* जनवरी-जून, १९८३ में प्रकाशित नलिनी उपाध्याय से रामविलास शर्मा की बातचीत, 'आलोचना और प्रगतिशील साहित्य', *मेरे साक्षात्कार,* उपरोक्त, पृष्ठ ३५-३७

खुद रामविलासजी जिस तरह की हिंदी लिखते थे, वह उनकी इस लोकतांत्रिक कल्पनाशीलता का साकार रूप थी। उनके लिखे हुए हज़ारों-हज़ार पृष्ठों पर दर्ज लाखों-लाख शब्द किस भाषा के हैं? दर्शन, इतिहास, पुरातत्त्व, राजनीतिक सिद्धांत, मार्क्सवाद, संस्कृत साहित्य की गवेषणा, संत साहित्य की गवेषणा— यह सब उन्होंने किस भाषा लिखा है? उसी भाषा में जिसे कभी हिंदुस्तानी कहा जाता था। जिसकी पैरोकारी गाँधी और प्रेमचंद करते थे। जो लोग कहते हैं कि हिंदुस्तानी में महान और प्रचुर रचनाएँ नहीं हुईं, उन्हें निरुत्तर करने के लिए *रानी केतकी की कहानी* जैसा पुराना उदाहरण रखने के बजाय रामविलास शर्मा की सौ पुस्तकें रख देनी चाहिए।

IV
हिंदी की उन्मोचक कल्पनाशीलता : कुछ प्रश्न

रामविलास शर्मा क्या थे, यह तय करने से पहले हमें यह तो जानना ही चाहिए कि रामचंद्र शुक्ल, महावीर प्रसाद द्विवेदी और हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के बाद हिंदी की सबसे महान हस्ती की अपनी आत्म-छवि क्या थी :

> मेरे जीवन का मुख्य लक्ष्य हिंदी-भाषी जनता को ऊपर उठाना है। उसे जागृत करना है, उसके ज्ञान को समृद्ध करना है। इसी के साथ स्वयं को शिक्षित करना है। जो बातें हम नहीं जानते, उनको जानना, अपनी जानकारी से दूसरों को लाभ उठाने का अवसर देना, इस प्रकार के लक्ष्य मेरे सामने बराबर रहे हैं। इनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। ... मैं न तो मौलिक कलाकार हूँ और न ही मौलिक विचारक। अधिक से अधिक आप मुझे नए-पुराने कलाकारों और विचारकों का व्याख्याता कह सकते हैं। ... मेरा सारा प्रयत्न इस दिशा में है न तो हिंदी जाति डूबे, न उसके साथ सारा देश डूबे। कला कभी भी साहित्य के ज्ञान-कांड का स्थान नहीं ले सकती। मेरा कार्य जैसा भी इस ज्ञान-कांड से जुड़ा है ...। ... राजनीतिक परिवर्तन के लिए सामूहिक प्रयत्न आवश्यक है। परंतु साहित्य और कलाओं से बहुत बड़ा परिवर्तन हो सकता है। दो समर्पित साहित्यकार, दो समर्पित संगीतकार, दो निष्ठावान कलाकार समाज में ऐसा परिवर्तन कर सकते हैं जैसा सौ राजनीतिज्ञ मिल कर नहीं कर सकते। इसलिए अपनी विरासत से प्रेरणा लेनी चाहिए और यह विश्वास करना चाहिए कि निष्ठावान साहित्यकार या कलाकार की साधना कभी व्यर्थ नहीं जाती।[५८]

चार कथनों का यह छोटा सा कोलाज कई टिप्पणियों का मोहताज है। पहले कथन पर यही कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष को प्रमाण को ज़रूरत नहीं होती। रामविलासजी ने हिंदी-भाषी जनता के बौद्धिक स्तर को ऊपर उठाने के लिए जो किया, उसकी मिसालें केवल अतीत में हैं वर्तमान में नहीं। जहाँ तक मौलिकता का सवाल है, उनके कथन को अतिशय विनम्रता के अलभ्य उदाहरण के रूप में ही लिया जा सकता है। जो व्यक्ति १९४९ में व्यापारिक पूँजी की गतिविधियाँ देख कर भारतीय पूँजीवाद की देशज संभावनाओं की तरफ इशारा कर रहा है, वह इतिहास-लेखन संबंधी अपनी मौलिक अंतदृष्टियों में इरफान हबीब का पूर्ववर्त्ती है। जो व्यक्ति भारत की प्राक्-औपनिवेशिक आधुनिकता का संधान सत्तर और अस्सी के दशक में ही करने लगा हो, वह नब्बे के दशक में भारत का अर्ली-मॉडर्न खोजने वाली इतिहासकार मंडली का पूर्ववर्त्ती है। जो व्यक्ति १९६१ में

---

[58] ये *मेरे साक्षात्कार* और *युगपुरुष रामविलास शर्मा* से। पृष्ठ २७९, २५४ और शीघ्र प्रकाश्य।

सामाजिक आधार पर भाषा के विकास की जाँच-पड़ताल करने का आग्रह करता हुआ *भाषा और समाज* जैसी विराट पुस्तक लिख रहा था, वह सत्तर के दशक में स्थापित हुई सोशल-लिंग्विस्टिक्स की प्रतिष्ठा का पूर्ववर्त्ती है।[५९] जहाँ तक वैदिक काल और आर्यों का सवाल है, *वैदिक हड़प्पंस* के रचियता भगवान सिंह रामविलास शर्मा की मौलिक अंतदृष्टि के बारे में यह कह कर आश्चर्य जाहिर कर ही चुके हैं, 'मैं कई बार यह देख कर भौंचक रह जाता हूँ कि जिन बातों की ओर मुझसे पहले किसी का ध्यान नहीं गया था, उनकी तरफ रामविलासजी का ध्यान गया था।'[६०] उनकी कल्पनाशीलता मुख्य तौर पर भारतीय साहित्य और मार्क्सवाद के अध्ययन के ज़रिए संसाधित हुई थी। वे एक प्रशिक्षित समाज-वैज्ञानिक, इतिहासकार या भाषा-विज्ञानी नहीं थे। और यह स्वीकारोक्ति एक-दो जगहों पर उन्होंने खुद भी की है। तो फिर वे हिंदी के जिस ज्ञान-कांड की चर्चा करते हैं, उसे किस श्रेणी में रखा जाएगा?

उनके ज्ञान-कांड का संबंध उनके अंतिम कथन से है जिसमें वे समाज-परिवर्तन में साहित्यकार और कलाकार की भूमिका के केंद्रीय महत्त्व पर प्रकाश डालते हैं। यही वह जगह है जहाँ बरबस ब्राइन वाइंस्टीन का वह सूत्रीकरण याद आ जाता है जिसमें राजनीतिक भाषाशास्त्र के इस विद्वान ने एक ख़ास तरह की हस्ती का संरचनात्मक आविष्कार किया था। यह हस्ती थी लेंग्वेज स्ट्रैट्जिस्ट की, भाषा को रणनीति की तरह इस्तेमाल करने वाले समाज-चिंतक की। वाइंस्टीन ने कहा था :

> नई राजनीति बनाने वाले आसानी से हमारा ध्यान आकर्षित कर लेते हैं। लेकिन उन्हीं के ज़माने में काम कर रहे संस्कृतिकर्मियों पर महज़ सरसरी नज़र डाल कर काम चला लिया जाता है, क्योंकि क़लम के तलवार से ज़्यादा ताकतवर होने की हक़ीक़त मानने के लिए कोई तैयार नहीं है। इतिहास-निर्माताओं की इस उपेक्षित श्रेणी में उन लेखकों, अनुवादकों, कवियों और शब्दकोश निर्माताओं का शुमार होता है जिन्होंने अपनी साहित्यिक रचनाशीलता के लिए एक ख़ास ज़ुबान चुन कर उस भाषा को अस्मिता के परचम में बदल डाला है।[६१]

वाइंस्टीन ने भाषा-चिंतकों की इस उपेक्षित श्रेणी में बारहवीं सदी के महाकाव्य *एल सिड* के उस रचियता को रखा है जिसकी वजह से कैस्टीलियन भाषा तेरहवीं सदी में पहुँच कर स्पेनिश में बदल पाई। उन्होंने इस श्रेणी में जियॉफरी चौसर, नोह वेब्सटर, वुक कार्डिज़, अलेक्सांदेर पुश्किन, इलाइज़ार बेन यहूदा, मार्टिन लूथर और दांते को गिनाया है। ये सभी लोग न केवल अपने ज़माने की प्रभु-भाषाओं में निपुण थे बल्कि द्विभाषी और त्रिभाषी थी। अगर वे चाहते तो अपने ज़माने की उन भाषाओं में लाभकारी करियर बना सकते थे जिन्हें राजनीतिक और दरबारी प्रतिष्ठा प्राप्त थी। पर इन सभी ने मुश्किल रास्ता अपनाया। अपेक्षाकृत दबी हुई और अक्षम समझी जाने वाली उन भाषाओं के लिए काम किया जिनमें तत्कालीन सर्वसाधारण आपसी संवाद करता था। रामविलास शर्मा इस श्रेणी में शामिल होने के स्वाभाविक अधिकारी हैं। इन सभी महान आत्माओं की तरह उनमें भी एक खास गुण था। राजनीति में गहरी दिलचस्पी और उसकी विश्लेषणात्मक समझ, लेकिन उससे हाथ भर दूर रह कर अपने काम में दत्त-चित्त रहना। इन सभी हस्तियों की ही तरह वे जीवन की शुरुआत में ग्रहण किए गए बौद्धिक प्रभावों के संयोग से बने थे। उनके ऊपर विवेकानंद और दयानंद का प्रभाव तो था ही, साथ में सावरकर के

---

[59] रामविलास शर्मा के भाषा-विज्ञान संबंधी योगदान पर विशद चर्चा के लिए देखें, कृष्ण दत्त शर्मा, 'भाषा चिंतन के विविध पक्ष', *वसुधा-51,* उपरोक्त, पृष्ठ ६५-८७

[60] भगवान सिंह, उपरोक्त, पृष्ठ ७३-७४

[61] वाइंस्टीन, ब्रायन, 'लेंग्वेज स्ट्रैट्जिस्ट्स : रिडिफाइनिंग पॉलिटिकल फ्रंटियर्स ऑन दि बेसिस ऑव लिंग्विस्टिक चॉयसेज़', *वर्ल्ड पॉलिटिक्स,* खंड ३१, अंक ३, अप्रैल १९७९, पृष्ठ ३४५-३६४

हिंदुत्ववाद से मुक्त एकदम शुरुआती लेखन का प्रभाव भी था। पर ये सभी प्रभाव उस छलनी से हो कर गुज़रे थे जो उन्हें मार्क्सवाद ने प्रदान की थई। भाषा को केंद्र बना कर अपनी बौद्धिक रणनीति बनाने वाली उपरोक्त हस्तियों और रामविलासजी के बीच एक सबसे बड़ा फर्क यह है कि उन्होंने जिस युग में हिंदी भाषा की वकालत की, उसमें कैस्टीलियन, अंग्रेज़ी, जर्मन या इतालवी की तरह यह भाषा साहित्यिक या राजनीतिक प्रतिष्ठा से वंचित नहीं थी। उन लोगों का युग राजशाही और धर्मशाही का था, पर यह लोकतंत्रों का युग है, मार्क्सवाद द्वारा की जाने वाली जनसाधारण की पैरोकारी का युग है। इस लिहाज़ से रामविलासजी का उद्यम और भी पेचीदा और बहुआयामी है।

रामविलासजी को कइयों ने भारतीय आधुनिकता का महावृत्तांत रचने वाला महारथी बताया है। मैं इसमें यह भी जोड़ देना चाहता हूँ कि वे भारतीय राष्ट्रवाद के सकारात्मक पहलुओं को उभारने वाले ऐसे विद्वान थे जिनकी समीक्षाओं में मार्क्सवाद और राष्ट्रवाद का संश्रय उभरता है। जो महावृत्तांत रचता है, उससे कुछ लघु-वृत्तांतों के साथ अन्याय हो ही जाता है। रामविलासजी के हाथ से होने वाले अन्यायों को सूचीबद्ध करना आसान है। यह पूछा जा सकता है (और पूछा भी जाना चाहिए) कि उनके साहित्य में हिंदी से कहीं पहले से स्थापित साहित्य-रचना की भाषाएँ बोलियाँ क्यों बन कर रह गईं, और क्यों उन्हें रहम करके इन बोलियों को आगे चल कर जनपदीय भाषा का थोड़ा सा भव्य सम्बोधन देना पड़ा? अगर इन जनपदीय भाषाओं का सत्रहवीं सदी तक का साहित्य हिंदी की विरासत है, तो फिर वे उनके उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के साहित्य को वे हिंदी के आधुनिक साहित्य की श्रेणी में क्यों नहीं मानते थे? अगर वे उर्दू और हिंदी की साहित्यिक परम्परा को एक ही मानते थे, तो हिंदी साहित्य के इतिहास में उर्दू के साहित्य को उन्होंने क्यों नहीं रखा? जो रियायतें उन्होंने निराला को दीं, वही मुक्तिबोध को क्यों नहीं दीं? मार्क्सवाद के लीक से हट कर इस्तेमाल की जो छूट उन्होंने खुद को दी, वही छूट जब कोई और लेता था तो वे अचानक मार्क्सवाद के किताबी अनुयायी क्यों हो जाते थे? दूसरे, रामविलासजी के समग्र विश्लेषण में 'वर्ग' की श्रेणी एक तरह के विकट रिडक्शनिज़म की तरह सामने क्यों आती है? रिडक्शनिज़म यानी खुद उन्हीं के शब्दों में घटाववाद। वर्ग एक श्रेणी है जो अब सिर्फ मार्क्सवादी प्रत्यय नहीं रह गई है। विभिन्न अनुशासनों के विद्वानों ने समाज में वर्गों के निर्माण और विकास की प्रक्रियाओं को मार्क्सवादी या ग़ैर-मार्क्सवादी प्रस्थानबिंदुओं से चिह्नित किया है। वैसे भी पिछले चार दशकों से भारतीय समाज के संदर्भ में जाति-प्रथा और आधुनिक राजनीतिकरण के सहमेल से बनने वाले नई संरचनाओं का संधान करते समय वर्ग-घटाववाद से बच निकलने में बेहतरीन कामयाबी हासिल की गई है। सवाल यह है कि आरक्षण के प्रश्न पर रामविलासजी इस घटाववाद से क्यों नहीं बच पाते? उनकी कल्पनाशीलता यहाँ काम क्यों नहीं आती?

भाषा के प्रश्न पर मार्क्सवाद उनके हाथों में जा कर नवाचार का औज़ार बन जाता था, और परम्परा का द्वंद्वात्मक मूल्यांकन करने के ज़रिए वे हिंदी की साहित्यिक आलोचना को रहस्यावरणों से मुक्त करने की भूमिका निभा पाते थे, पर शीतयुद्धीन राजनीति का चश्मा लगाए रहने के कारण उन्हें साहित्य पर अस्तित्ववाद के प्रभाव में अमेरिकी साजिश नज़र आती थी। यह 'अमेरिकी साजिश' एक ऐसा फ़िकरा है जो रामविलास शर्मा की कृतियों में अचानक स्प्रिंग की तरह उछल कर सामने आ जाता है। जिस पाठक को शीतयुद्धीन सांस्कृतिक राजनीति में दिलचस्पी नहीं है, वह परेशान हो जाता है कि आखिर इतने आश्वस्तकारी विश्लेषण में इसे लाने की ज़रूरत क्या थी? एंडरसन, चटर्जी, कविराज और हार्डीमेन वगैरह से रामविलासजी का यह सवाल पूछना जायज है कि आखिर आप लोगों को भारत की हर चीज़ 'इमेजिंड' और 'कंस्ट्रक्टिड' क्यों लगती है? जिन संरचनाओं को

आप काल्पनिक या गढ़ी हुई बताते हैं उनका किसी न किसी समय में कोई आधार भी तो रहा होगा? या उन्हें एकदम हवा में से इमेजिन और कंस्ट्रक्ट कर लिया गया है? इन विद्वानों से यह सवाल पूछना भी वाजिब है कि आप लोगों को अंग्रेज़ों से पहले के भारत में इतना अँधेरा क्यों दिखता है? क्या आपके इतिहास की बारीकियाँ इस बुनियादी प्रस्थापना पर नहीं खड़ी हैं कि अंग्रेज़ों ने ही हमें मानवता की उच्चतर अवस्था में पहुँचाया वरना हम तो निम्नतर अवस्था में पड़े रहने के लिए अभिशप्त थे? रामविलासजी के इन सवालों की रोशनी में भारतीय इतिहास-लेखन के सबाल्टर्न प्रसंग की एक बार फिर से जाँच करने की संभावनाएँ खुलती हैं, लेकिन ये सभी सवाल पूछते हुए जब वे इन इतिहासकारों को अमेरिकी पूँजी के हित में सक्रिय गिरोह की संज्ञा देने लगते हैं तो यह आलोचना छीछालेदर में बदल जाती है। चालीस के दशक में खुद रामविलासजी ने फ़िराक़ गोरखपुरी की इसलिए लानत-मलामत की थी कि उर्दू के इस शायर ने हिंदी के साहित्यकारों और और उनके भाषाई प्रयोगों को ब्राह्मण और कायस्थ की श्रेणियों में विभाजित करके निहायत सरलीकृत रवैये का परिचय दिया था। रामविलासजी ने छीछालेदर रहित आलोचना की वह पद्धति सबाल्टर्न स्कूल के प्रति क्यों नहीं अपनायी जिसकी वे खुद वकालत करते रहे हैं?

रामविलासजी की कल्पनाशीलता पर उठाए गए सवालों की यह सूची और भी लंबी हो सकती है, पर उनके पीछे के कारणों को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में रख कर समझना अपने आप में एक अलग प्रोजेक्ट है। उन्हें साठ वर्ष का रचनात्मक जीवन मिला, जो वैसे तो कम नहीं है लेकिन अगर उन्हें कुछ समय और मिला होता तो वे अपनी कई प्रस्थापनाओं में उसी तरह संशोधन कर लेते जैसे अस्सी वर्ष की उम्र में गाँधी-विचार का आद्योपांत अध्ययन करके उन्होंने गाँधी के मूल्यांकन में की गई अपनी कई त्रुटियों को संशोधित कर लिया था। वैसे भी ऊपर उठाए गए सवाल उनका नकारात्मक मूल्यांकन करने के लिए बहुत कम हैं। बर्तोल्त ब्रेख़्त की भाषा में कहें तो 'मैं' और 'वे' के बीच हो रहे संघर्ष ने रामविलासजी की वाणी को कई बार कर्कश बना दिया था। पर ज्ञान, प्रतिभा, समर्पण, प्रतिबद्धता और मौलिक कल्पनाशीलता के लिहाज़ से लासानी उनकी विरासत हिंदी-जगत के लिए उन्मोचक है और रहेगी। वे तीसरी दुनिया की उन सबसे चमकदार प्रतिभाओं में से एक थे जिन्होंने मार्क्सवाद को यूरोकेंद्रीयता से मुक्त करके न केवल भारत और हिंदी-क्षेत्र के लिए अपना बनाने का कठिन उद्यम किया; पश्चिम और अंग्रेज़ी की कथित श्रेष्ठता और दम्भ से पूरी तरह मुक्त बौद्धिकता का संधान किया; और सबसे अलग और सबसे ऊपर उठते हुए उन्होंने अपने अहर्निश रचना-कर्म से दुनिया के सामने चुनौती फेंकी कि विचारधारा कोई भी हो, पर पूर्व का ज्ञान प्राप्त करने के लिए पश्चिम की ज़मीन से हट कर पूर्व की धरती पर क़दम रखना ही होगा।